णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

जैन आचार संहिता

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-श्रावकाचार की प्रारंभिक अवस्था	(कुल पाठ-5)
इकाई – 2	-श्रावक के बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ	(कुल पाठ-4)
इकाई – 3	-श्रमणाचार	(कुल पाठ-5)
इकाई – 4	-अनुप्रेक्षा, ध्यान एवं सल्लेखना	(कुल पाठ-4)
इकाई – 5	-पंचाचार	(कुल पाठ-3)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन, दिल्ली

डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

- संस्करण -

प्रथम संस्करण (सन् 2014)-प्रतियाँ 500

द्वितीय संस्करण (सन् 2022)-प्रतियाँ 500

वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला पुष्प नं.-506

ISBN-978-93-84003-33-3

मूल्य-150/-रुपये

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

एवं

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने सन् 2012 में युनिवर्सिटी प्रवास के समय इस विश्वविद्यालय में ''जैन दर्शन विभाग'' की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही अन्य स्नातक करने वाले विद्यार्थियों के कोर्स में एक विषय जैनधर्म का भी सम्मिलित करने का उपक्रम किया गया है, जो सराहनीय है। यहाँ से जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के ऑनलाइन सर्टिफिकेट कोर्स भी संचालित किये जा रहे हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर एवं विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं बड़े हर्ष का परिचायक है।

अतः मैं इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को कोटिशः आशीर्वाद प्रेषित करती हूँ कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत् होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय के जैन दर्शन विभाग हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी)

प्रस्तावना

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(लेखन एवं संकलनकर्त्री)

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-''कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः'' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में ''महावीर डेन्टल कॉलेज'' से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रही है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये ''प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह'' में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके।

अतः इस त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स में प्रत्येक वर्ष में जैनधर्म से संबंधित 2-2 विषय रखे गये हैं, जिनमें प्रथम वर्ष में 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास' तथा 'जैन तत्त्व विद्या', द्वितीय वर्ष में 'जैन आचार संहिता' एवं 'जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त' तथा तृतीय वर्ष में 'जैनागम में न्याय' एवं 'जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' है। ऐसे बी. ए. में जैनधर्म के कुल 6 पेपर रखे गये हैं।

इसी प्रकार मैंने एम.ए. जैनोलॉजी के प्रथम व द्वितीय वर्षों की भी 4-4 किताबें तैयारी की हैं। इनमें प्रथम वर्ष में जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास, भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका, कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना तथा जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा किताबें शामिल है। पुनः द्वितीय वर्ष के लिए तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम), जिनागम दर्पण, अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय एवं जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण, ऐसी ये 8 किताबें अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उच्चस्तरीय ज्ञान से पूर्ण हैं।

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

पुस्तकों के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातक/स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री आदि प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शितायुक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षा की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (पूर्व अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम.ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है। वर्तमान में यहाँ से जैनधर्म पर संचालित किये जा रहे है विभिन्न सर्टिफिकेट कोर्स एवं अन्य स्नातकीय शिक्षा कोर्स में भी जैनधर्म की उपरोक्त प्रारंभिक किताबों का उपयोग किया जा रहा है, जिसके लिए विश्वविद्यालय प्रबंधन के प्रति हमारी बहुत सारी शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद प्रेषित है।

कुलाधिपति की कलम से..........

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में अध्ययन करके मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012 को प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में ''पीएच.डी.'' की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन की शिक्षा प्रणाली को ऑनलाइन अथवा दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किया गया है अतः इसका स्टडी मैटेरियल सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

सम्पादकीय.....

-डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप

यह एक अत्यन्त ही ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें छात्र-छात्राओं को जैनधर्म के अति विशिष्ट ज्ञान से परिचित होने का अवसर मिल रहा है। बी.ए. और एम.ए. जैनोलॉजी के आधार पर निम्न कुल 14 पुस्तकों का निर्माण अत्यन्त ही कठिन और श्रमसाध्य कार्य था, जिसे प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी ने अत्यन्त कुशलता के साथ अपने गहन ज्ञान अध्ययन और कुशाग्र विवेक के साथ सन् 2014 में सम्पन्न किया। यह कार्य विश्वप्रसिद्ध जैन तीर्थ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर की समृद्ध लाइब्रेरी में उपलब्ध शताधिक ग्रंथों के आलोढ़न से अत्यन्त कम समय में सम्पन्न किया गया। इस लाइब्रेरी में लगभग 20 हजार से अधिक जैनधर्म की पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिसमें अनेकों पाण्डुलिपियाँ भी संग्रहित हैं। ऐसी लाइब्रेरी के सदुपयोगपूर्वक इस कोर्स का निर्माण जैनधर्म के आगमोक्त ज्ञान के परिवेश में अत्यन्त ही प्रामाणिक है। इन पुस्तकों के माध्यम से धर्म के ज्ञान के साथ विश्वविद्यालयों द्वारा छात्र-छात्राएँ स्नातक और स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ भी हासिल कर सकते हैं।

इसी क्रम में तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद को सर्वोच्च जैन साध्वी गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 2012 में प्रेरणा प्रदान की, जिसके आधार पर कुलाधिपति श्री सुरेश जी जैन ने अपने विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी डिपार्टमेंट की स्थापना करके जैनधर्म के प्रति एक महान शैक्षणिक कार्य प्रारंभ किया है। वर्तमान में इस विश्वविद्यालय से निम्न पुस्तकों के आधार पर ही विभिन्न वार्षिक सर्टिफिकेट कोर्स का संचालन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में अनेकों वर्ष से चल रहा है। इसी क्रम में वर्तमान सन् 2026 से विश्वविद्यालय के द्वारा स्नातक की शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के लिए एक विषय जैनधर्म का भी इन पुस्तकों के आधार पर पढ़ाया जाना निर्धारित किया गया है, जो जैनधर्म के प्रति विश्वविद्यालय की एक अनुकरणीय पहल है।

ऐसे कोर्स का अध्ययन करके जहाँ विश्वविद्यालय जैनधर्म और संस्कृति के प्रति अपने कुछ कर्तव्य निभा सकेगा, वहीं पढ़ने वाले विद्यार्थीगण भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और उसके सिद्धान्तों के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास में अपनी महती भूमिकाएँ अदा करेंगे, ऐसी आशाओं के साथ इस शिक्षा क्षेत्र से जुड़ने वाले सभी महानुभावों एवं छात्र-छात्राओं के प्रति उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामनाएँ हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित स्नातक एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षण हेतु जैनधर्म की विभिन्न विषयक पुस्तकें

-स्नातक हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास

(2) जैन तत्त्व विद्या

द्वितीय वर्ष-

(1) जैन आचार संहिता

(2) जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त

तृतीय वर्ष-

(1) जैनागम में न्याय

(2) जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप

-स्नातकोत्तर हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास

(2) भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका

(3) कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना

(4) जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा

द्वितीय वर्ष-

(1) तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम)

(2) जिनागम दर्पण

(3) अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय

(4) जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1— श्रावकाचार की प्रारंभिक अवस्था	**1-29**
पाठ-1 श्रावक धर्म एवं देवदर्शन विधि	1-3
पाठ-2 अष्टमूलगुण	4-7
पाठ-3 श्रावक की षट् आवश्यक क्रियाएँ	8-13
पाठ-4 सात व्यसन त्याग एवं अभक्ष्य त्याग	14-18
पाठ-5 षोडश संस्कार	19-29
इकाई 2— श्रावक के बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ	**30-47**
पाठ-1 पंच अणुव्रत	30-33
पाठ-2 तीन गुणव्रत	34-38
पाठ-3 चार शिक्षाव्रत	39-44
पाठ-4 श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	45-47
इकाई 3— श्रमणाचार	**48-76**
पाठ-1 श्रमणाचार के अन्तर्गत मूलगुण	48-52
पाठ-2 आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी	53-56
पाठ-3 समाचार विधि एवं अन्य	59-60
पाठ-4 मुनियों की आहारशुद्धि	61-66
पाठ-5 आवश्यक क्रिया	67-76
इकाई 4— अनुप्रेक्षा, ध्यान एवं सल्लेखना	**77-102**
पाठ-1 बारह भावना	77-81
पाठ-2 सोलहकारण भावना	82-83
पाठ-3 ध्यान	84-99
पाठ-4 सल्लेखना	10-102
इकाई 5— पंचाचार	**103-118**
पाठ-1 दर्शनाचार, ज्ञानाचार	103-107
पाठ-2 चारित्राचार	108-110
पाठ-3 तपाचार एवं वीर्याचार	111-118

इकाई–1 श्रावकाचार की प्रारंभिक अवस्था

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) श्रावक धर्म एवं देवदर्शन विधि

(2) अष्टमूलगुण

(3) श्रावक की षट् आवश्यक क्रियाएँ

(4) सात व्यसन त्याग एवं अभक्ष्य त्याग

(5) षोडश संस्कार

पाठ-1–श्रावक धर्म एवं देव दर्शन विधि

1.1 श्रावक धर्म (गृहस्थ धर्म)-

संसार के दु:खों से छुड़ाकर जो उत्तम सुख प्राप्त कराने में कारण हो, उसे धर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– मुनिधर्म और श्रावक (गृहस्थ) धर्म। मुनिधर्म तो पापों के सर्व त्यागरूप होता है और गृहस्थ धर्म पापों के एकदेश त्याग रूप होता है। मुनिधर्म मोक्ष प्राप्त करने का रास्ता है और श्रावक–धर्म मुनिधर्म प्राप्त करने का रास्ता है।

अनादिकाल से ग्रहण किये गये मिथ्यात्व आदि को एकदम त्याग कर मुनिधर्म अपनाने की शक्ति आज के सामान्य मनुष्य में नहीं है। अत: उसे प्रारम्भ में श्रावक–धर्म धारण करने का उपदेश दिया गया है ताकि वह श्रावक के व्रत, प्रतिमा आदि ग्रहण करके अपना अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाते हुए मुनिधर्म अंगीकार करने की शक्ति प्राप्त कर सके। जैसे शराब, अफीम आदि के दीर्घ काल तक सेवन करने वाला व्यक्ति इन व्यसनों को एकदम छोड़ने में अशक्त होता है और प्रारम्भ में धीरे–धीरे क्रम से उससे व्यसन में कमी करवाई जाती है ताकि उसमें आत्मबल उत्पन्न हो सके और वह व्यसन को पूर्णरूपेण छोड़ सके। इसी प्रकार श्रावक–धर्म अपनाकर व्यक्ति अपने आत्मबल को विकसित कर लेता है और मुनिधर्म को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

गृहस्थ धर्म के पालन से सुख, शांति, यश व धन की प्राप्ति आदि होती है और यह परम्परा से मोक्ष का कारण है। यदि धन पाकर दान नहीं दिया, शास्त्र पढ़कर कषायों को कम नहीं किया और मानव शरीर पाकर व्रत आदि नहीं किये तो जीवन व्यर्थ है, संसार को बढ़ाने वाला ही है। अत: हमारे द्वारा गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी व्रत, प्रतिमा आदि धारण करके श्रावक–धर्म की पालना करना आवश्यक है।

1.2 श्रावक के भेद-

सच्चे देव, शास्त्र व गुरु पर श्रद्धा करने वाला सद्गृहस्थ 'श्रावक' कहलाता है। 'श्रावक' शब्द तीन अक्षरों से बना है। इन तीनों अक्षरों का अर्थ क्रमश: होता है – श्रद्धावान, विवेकवान और क्रियावान। इस प्रकार श्रावक श्रद्धावान, विवेकवान और सदाचारी होता है।

श्रावक के तीन भेद—

"श्रावक के तीन भेद हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। पक्ष, चर्या और साधन के द्वारा ये तीन भेद हुए हैं।" अभ्यासरूप से अष्टमूलगुण आदि का पालन करना, देव, धर्म, गुरु का पक्ष रखना पक्ष है। कृष्यादि आरंभजन्य पापों को दूर करने के लिए पुत्रादि के ऊपर घर का भार छोड़कर प्रतिमारूप व्रतों का धारण करना चर्या है और ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन करते हुए अन्त समय में समाधिमरण करना साधन है।

पाक्षिक—जिसके हिंसादि पांचों पापों का त्यागरूप व्रत है तथा जो अभ्यासरूप से श्रावक धर्म का पालन करता है, उसको पाक्षिक श्रावक या प्रारंभ देशसंयमी कहते हैं।

नैष्ठिक—जो देशसंयम को वृद्धिंगत करते हुए क्रम से ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है।

साधक—जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यान में लीन होकर समाधिमरण करता है, उसको साधक श्रावक या निष्पन्न देशसंयमी कहते हैं।

जिनमंदिर जाकर के जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना प्रत्येक श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य है। बचपन से ही देव दर्शन के संस्कार डाले जाने चाहिए। ताकि दूरदर्शन की विकृति से दूर होकर देव दर्शन की संस्कृति में बच्चे ढल सकें। वीतराग प्रभु भक्त को कुछ देते नहीं, ऐसी मान्यता है। किन्तु उनके दर्शन-पूजन से अर्जित पुण्य से सांसरिक सम्पत्ति के साथ-साथ उनके मार्ग का अनुसरण करने से शाश्वत मोक्ष सुख की भी प्राप्ति हो जाती है। अत: प्रात:काल देव दर्शन का संकल्प करना चाहिए।

घर में स्नानादि के समय या जब से जिनेन्द्र देव के दर्शन की भावना प्रारंभ होती है, तभी से उस देव दर्शन का फल एवं महत्त्व हो जाता है, ऐसा हमारे पूर्व आचार्य कहते हैं कि-

जब चिन्तो तब सहस्र फल, लक्खा फल गमणेय।
कोड़ा कोड़ी अनंत फल, जब जिनवर दिट्ठेय।।

अर्थात् जब हमें भगवान के दर्शन करने का विचार-संकल्प मन में आता है कि अरे! अभी हमें मंदिर जी जाना है, भगवान के दर्शन करना है। ऐसा चिन्तन आते ही हजार गुणा फल प्रारंभ हो जाता है। जब आप सामग्री आदि लेकर भक्ति-स्तुति आदि पढ़ते हुए मंदिर की ओर ईर्यापथपूर्वक चल देते हैं, तक आपको लाख गुणफल होता है। लेकिन जब आप मंदिर जी में पहुँचकर साक्षात् जिनमूर्ति के दर्शन करते हैं, तब अवश्य ही अनंत कोड़ा कोड़ी फल होता है।

1.3 मंदिर जी प्रवेश विधि-

मंदिर जी में प्रवेश करते समय शुद्ध छने जल से पैर धोने चाहिए। यदि आप जूते, मोजे, चप्पल आदि पहनकर आये हैं तो उन्हें यथास्थान ही उतार देना चाहिए।

मंदिर के दरवाजे में प्रवेश करते ही बोलें—**ॐ जय जय जय, नि:सही नि:सही नि:सही। नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु।**

भगवान के सामने खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर बोलें—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

भगवान की तीन प्रदक्षिणा देवें। बँधी मुट्ठी से अँगूठा भीतर करके चावल के पुँज चढ़ावें।

भगवान के सामने **अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु** ऐसे पाँचों पद बोलते हुए क्रम से बीच में, ऊपर, दाहिनी तरफ, नीचे और बाईं तरफ ऐसे पाँच पुँज चढ़ावें।

    *
* * *
    *

सरस्वती के सामने **प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नम:** ऐसे बोलकर क्रम से चार पुँज लाइन से चढ़ावें।

❋ ❋ ❋ ❋

गुरू के सामने **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र** ऐसे बोलकर क्रम से तीन पुँज लाइन से चढ़ावें।

✦ ✦ ✦

पुनः हाथ जोड़कर निम्न स्तोत्र बोलें—

हे भगवन्! नेत्रद्वय मेरे, सफल हुये हैं आज अहो।
तव चरणांबुज का दर्शन कर, जन्म सफल है आज अहो।।
हे त्रिभुवन के नाथ! आपके, दर्शन से मालुम होता।
यह संसार जलधि चुल्लू जल, सम हो गया अहो ऐसा।।1।।
अर्हत्सिद्धाचार्य औ, पाठक साधु महान्।
पंच परम गुरू को नमूँ, भवभव में सुखदान।।2।।

पुनः विधिवत् पृथ्वी तल पर मस्तक टेककर नमस्कार करें।

अर्थ—हे भगवन्! आपके चरण कमलों का दर्शन करके आज मेरे दोनों नेत्र सफल हो गये हैं और मेरा जन्म भी सफल हो गया है। हे तीन लोक के नाथ! आपके दर्शन करने से ऐसा मालूम होता है कि जो मेरा संसार-समुद्र अपार था सो आज चुल्लू भर पानी के समान थोड़ा रह गया है।

अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पंच परम गुरू भव-भव में सुख देने वाले हैं। मैं इनको नमस्कार करता हूँ।

विभिन्न प्रकार के दर्शन पाठ, स्तुति पाठ पढ़ने के उपरांत जिनबिम्ब को ध्यान से अवलोकन कर उन जैसे ही बनने की भावना मन में भानी चाहिए।

जिनाभिषेक करना जैन श्रावक का कर्त्तव्य है, अतः आगम में वर्णित आर्षपरम्परा के अनुसार सम्पूर्ण अभिषेक विधि सम्पन्न कर पुण्यार्जन करें। अभिषेक के उपरांत निम्न मंत्र पूर्वक गंधोदक को श्रद्धा से धारण करें—

निर्मल से निर्मल अति, अघ नाशक सुखसीर।
वंदूं जिन अभिषेक कृत, यह गंधोदक नीर।।

1.4 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-धर्म किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-धर्म कितने प्रकार का है ? नाम बताओ ?

प्रश्न 3-श्रावक के कितने भेद हैं ? नाम बताइये ?

प्रश्न 4-देव, शास्त्र, गुरु के सम्मुख कितने पुंज चढ़ाये जाते हैं ?

पाठ-2—अष्टमूलगुण

2.1 मूलगुण क्या है?—

जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहिं, टिक सकता है पृथिवी पर।
नहीं नींव के बिना बना, सकता कोई मंजिल सुन्दर।।
वैसे ही बिन मूलगुणों के, श्रावक नहिं बन सकता है।
यदि धारण कर ले तो नर क्या, नारायण बन सकता है।।१।।

जिस प्रकार मूल (नींव) के बिना मकान नहीं टिक सकता, मूल (जड़) के बिना वृक्ष नहीं उग सकता, मूल (स्रोत) के बिना नदी, कुएँ, नहर आदि अपना नाम सार्थक नहीं कर सकते, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मनुष्य 'श्रावक' यह संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता।

आधुनिक युग जहाँ अनुसंधानों की गहराइयों तक पहुँच रहा है, वहीं अपनी आत्मा के अनुसंधान में बिल्कुल सुप्त है। जबकि आत्मिक अनुसंधान सर्वप्रथम अपना मूल विषय होना चाहिए। कवियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि हम पर की ओर देखने की बजाय पहले स्व का अवलोकन करें। इसलिए कहा भी है–

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो घट देखा आपनी, मुझसे बुरा न कोय।।

अधिक नहीं तो कतिपय क्षणों में अपनी ओर दृष्टि डालकर गुण–अवगुणों का चिंतन अवश्य करना चाहिए। जैसे वृक्ष की जड़ जब तक मजबूत नहीं होती, तब तक वह दूसरों को फल प्रदान करने में सक्षम नहीं हो सकता। मकान या मंदिर की नींव जब तक मजबूत नहीं होगी, तब तक वह अपने ऊपर की मंजिलों का भार सहन नहीं कर सकता, वैसे ही मानव भी जब तक अपनी नींव को मजबूत करने हेतु अष्ट–मूलगुणों का पालन नहीं करेगा, तब तक उसका जीवन न तो स्वयं फलीभूत हो सकता है और न ही परिवार, समाज और देश के लिए प्रेरणापात्र बन सकता है।

मानव का जीवन एक आदर्श जीवन कहा जाता है। जिस प्रकार आदर्श—दर्पण में मुँह देखकर व्यक्ति अपने चेहरे के दाग–धब्बों को छुड़ाकर उसे साफ–सुथरा बना लेता है, उसी प्रकार आपका जीवन भी ऐसा स्वच्छ दर्पण हो जिससे हर मानव जीवन जीने की कला सीख सके। इसीलिए कतिपय स्वाभाविक गुणों का पालन हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो कि मूलगुण के नाम से जाने जाते हैं।

2.2 मूलगुण कितने हैं?—

मनुष्यों में दो श्रेणियाँ देखी जाती हैं—

1. गृहस्थ 2. साधु

ये दोनों ही अपने कर्तव्यों का सुचारूरूप से पालन करने हेतु मूलगुणों–आवश्यक क्रियाओं को अंगीकार करते हैं। साधु, जो कि पूर्णरूप से सांसारिक क्रियाओं के त्यागी होते हैं, उन्हें 28 मूलगुण पालन करने होते हैं तथा श्रावक, जो गृहस्थाश्रम चलाता है उसे मात्र 8 मूलगुण का पालन करने का आदेश आचार्यों ने दिया है।

श्रावक होने के नाते आपको अपनी ओर झाँककर देखना होगा कि कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि साधुओं के अवगुणों की खोज करते–करते आप अपने मूलगुणों से विरहित हो गए हैं या पश्चिमी सभ्यता ने आपके ऊपर अपना प्रभाव तो नहीं जमा लिया है जिसके कारण बेमालूम अनार्य संस्कृतियाँ आपके नजदीक पदार्पण कर रही हैं।

यूँ तो जन्म लेने के 45 दिनों बाद प्रत्येक बालक को प्राचीन परम्परानुसार माताएँ मंदिर ले जाती हैं, वहाँ गुरुओं के द्वारा उसके कान में मंत्र सुनाकर उसे अष्टमूलगुण ग्रहण कराए जाते हैं, लेकिन आठ वर्ष तक बालक की अज्ञान अवस्था

होती है, अतः तब तक उसके पालन की जिम्मेदारी माता-पिता के ऊपर होती है आठ वर्षों के पश्चात् उन्हें अष्टमूलगुणों के नाम और उसका महत्व बतलाकर बालक को पुनः मूलगुण ग्रहण कराया जाता है।

शास्त्रों में मुख्यरूप से तीन प्रकार के मूलगुणों का वर्णन आता है।

2.3 पुरुषार्थसिद्धि उपाय में आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार मूलगुण के प्रकार—

मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।

अर्थात् मद्य (शराब), मांस (अण्डे, मछली वगैरह), मधु (शहद) ये तीन प्रकार होते हैं जो सर्वथा निंद्य और अधमगति में पहुँचाने वाले ही हैं और इनके सेवन से स्वास्थ्य एवं धन की भी बड़ी मात्रा में बर्बादी होती है।

पाँच उदम्बर फल–बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और गूलर इनको खाने में भी त्रस जीवों की हिंसा होती है, अतः 3+5=8 इन आठ वस्तुओं का त्याग करना ही अष्टमूलगुण कहलाता है, जिसे हर व्यक्ति सहज ही ग्रहण कर सकता है।

इन अपवित्र पदार्थों का नाममात्र सुनते ही कोई-कोई भोजन भी छोड़ देते हैं, किन्तु कुसंगति के प्रभाव से आपके जीवन में यदि इनके प्रवेश की संभावना भी हो तो इन्हें आप अपना जीवनशत्रु समझकर शीघ्र इनसे दूर हट जाएँ ताकि आपका जीवन भगवान महावीर और महात्मा गांधी जैसा महान बन सके। इसमें कोई घबराने की बात नहीं होती। आपको यह ध्यान रखना होगा कि मानव ही हैवान बनता है एवं मानव ही भगवान बनता है, केवल अपनी क्रिया-कलापों के बल पर।

तीर्थंकर महावीर भी एक बार कई भव पूर्व भील की पर्याय में जंगल में एक मुनि को दूर से पशु समझकर मारने को उद्यत हो गए, तब उनकी पत्नी ने कहा–इन्हें मत मारो, ये वन देवता हैं। भील उनके चरणों में नतमस्तक हो गया और मुनिराज के द्वारा अष्टमूलगुण का उपदेश सुनकर उसे ग्रहण किया। बस! यहीं से उसके जीवन का उत्थान प्रारंभ हुआ और वह एक दिन तीर्थंकर महावीर बन गया।

इसी प्रकार हे मानव! आप सबकी आत्मा में भगवान बनने की शक्ति विद्यमान है, उसको प्रकट करने में देरी किस काम की?

इतना सरल कार्य ''हरड़ लगे ना फिटकरी रंग चोखो आ जाए'' आपको न तो इसके पालन में पैसा खर्च करना है और न ही शारीरिक परिश्रम, किन्तु घर बैठे पुण्य का भण्डार स्वयमेव भर जावेगा तथा इनके सेवन से धन-हानि, यश-हानि, स्वास्थ्य-हानि, धर्म-हानि ये चार हानियाँ अवश्यंभावी हैं।

2.4 द्वितीय प्रकार के अष्टमूलगुण—

मद्यपलमधुनिशासन, पंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः।
जीवदयाजलगालन, मिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

पं. श्री आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में ये अष्टमूलगुण भी बताए हैं— 1. मद्य 2. मांस 3. मधु 4. रात्रि भोजन 5. पंच उदम्बर फल, इन पाँचों का त्याग और 6. जीवदया का पालन 7. जल छानकर पीना एवं 8. पंचपरमेष्ठी को नमस्कार। इसमें रात्रि भोजन में कम से कम अन्न त्याग तो अवश्य करें। पंचपरमेष्ठी नमस्कार में मंदिर जाकर देवदर्शन करना चाहिए। जहाँ मंदिर नहीं है अथवा विशेष अस्वस्थता है तो घर में ही णमोकार मंत्र की माला फेर लेवें। जल छानकर पीने का नियम यदि बाहर न पल सके तो घर में छानकर ही पीना चाहिए।

2.5 तृतीय प्रकार के अष्टमूलगुण—

आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

अर्थात् मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों का त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन तृतीय प्रकार का अष्टमूलगुण है। इसमें पंचाणुव्रतों के पालन से आज व्यक्ति दूर भागते हैं किन्तु यदि आप इनकी वास्तविकता समझ लें तो पायेंगे कि इनका पालन भी अति सरल है। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है–

1. **अहिंसाणुव्रत**—संकल्पपूर्वक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करने वाला मनुष्य अहिंसाणुव्रती कहलाता है।

2. **सत्याणुव्रत**—स्थूलरूप से झूठ नहीं बोलना सत्याणुव्रत है।

3. **अचौर्याणुव्रत**—बिना अनुमति लिए दूसरे की वस्तु नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है।

4. **ब्रह्मचर्याणुव्रत**—पुरुष के लिए अपनी पत्नी के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियाँ माता-बहन के समान तथा स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवाय अन्य समस्त पुरुष पिता और भाई के समान होते हैं। इसी प्रकार का शीलव्रत पालन करना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

5.**परिग्रहपरिमाण अणुव्रत**—आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह का रखना परिग्रहप्रमाण अणुव्रत कहलाता है। मनुष्य की इच्छाएँ असीमित हैं किन्तु उन्हें अधिक से अधिक सीमा में भी सीमित कर लेना अणुव्रत हो जाता है। जैसे- आप अपनी इच्छानुसार अधिक से अधिक परिग्रह रखें। सोना, चाँदी, नगद, मकान, भूमि आदि कितनी ही सम्पत्ति अपने नाम से रखें, किन्तु तीन लोक के अनन्त परिग्रह के पाप से छूटने हेतु ये सीमाएँ आवश्यक होती हैं।

इन पंच अणुव्रत पालन करने वालों के लिए आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं–

पंचाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।।

अर्थात् इन पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं जहाँ पर अवधिज्ञान, अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ तथा दिव्य वैक्रियिकशरीर प्राप्त करते हैं।

धर्मप्राण भारत देश के नागरिक होने के नाते आप स्वाभाविकरूप में उपर्युक्त 3 प्रकार के मूलगुणों में से किसी न किसी का पालन अवश्य करते होंगे। यदि आपको स्मरण नहीं है तो इस पावन प्रसंग का लाभ उठाकर जीवन को सदाचारी बनाएँ।

2.6 सदाचार और शाकाहार को प्रत्येक सम्प्रदाय में मान्यता प्रदान की गई है-

स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी कहा है—

"जो लोग माँस भक्षण करते हैं तथा शराब पीते हैं, उनके वीर्यादि धातु दुर्गन्ध से दूषित हो जाते हैं।"

सिक्ख सम्प्रदाय में "बार मास माँस महल्ला" नामक ग्रंथ में कहा है—

जो रत्त लगे कापड़े, जामा होवे पलीत।
जो रत्त पीवे मानुषा, तिन क्यों निर्मल चित्त।।

अर्थात् कपड़े पर खून लगने से वह कपड़ा अपवित्र हो जाता है तो हे मनुष्य! यदि तू अपवित्र रक्त पी जायेगा तो तेरा चित्त निर्मल कैसे रह सकता है?

इसी प्रकार "नानक प्रकाश" नामक ग्रंथ में (पूर्वार्ध अध्याय 55) वर्णन आता है कि गुरु नानक को एक बार कोई व्यक्ति आमिष भोजन परोसकर स्वागत करने लगा तो गुरु नानक उसका आतिथ्य स्वीकार न करते हुए उसे समझाते हैं—

''हम तुम्हारे यहाँ भोजन नहीं कर सकते क्योंकि तुम सभी जीवों को दुख देते हो। सबसे पहले तुम माँस खाना छोड़ दो, जिस कारण तुम्हारा जीवन नष्ट हो रहा है। तामसी प्रवृत्ति छोड़कर सुख देने वाली प्रभु की भक्ति करो।

इस्लाम धर्म में भी कई स्थानों पर मांसाहार को सदैव पाप बताया है। जैसे-कुरान, मजीद-''सूरा हज जिकर हज'' अर्थात् ''अल्ला ताला को तुम्हारी कुर्बानियों-गोश्त और खून से कोई वास्ता नहीं, केवल विश्वास की जरूरत है।

पारसी धर्म भी मांसाहार का घोर विरोध करता है। यथा—

अवस्ता भाषा में (इजस्ने-23वें हाय) —

मजदाओ अकामरोद इओगे ओशमेरदान।
ओरु आखश आरे बती जीओ तुम।।

अर्थात् जो पशु-पक्षियों को मारने तथा खाने का हुक्म देते हैं, उनको खुदा ने मारने की आज्ञा दी है।

महाभारत में मांसाहार का निषेध किया है।

जैसे— **न हि माँसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।**
हत्त्वा जन्तुं ततो मांसंतस्माद्दोषोऽस्तुभक्षणे।।

अर्थात् माँस तृण में से, काष्ठ में से या पत्थर में से पैदा नहीं होता, माँस तो जन्तु को मारकर ही पैदा किया जाता है अतः माँस भक्षण में महादोष माना गया है।

2.7 मनुस्मृति में भी कहा है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयो।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खारकश्चेति घातकाः।।

इसका अर्थ यह है कि माँस खाने की अनुमति देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, मोल लेने और बेचने वाला, लाने वाला और खाने वाला, ये सभी घातक होते हैं।

जैनधर्म में तो मांसाहार का बड़ी ही दृढ़तापूर्वक प्रतिषेध किया ही गया है। अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रंथों में पाया जाता है। जीवन में सदैव यह चिंतन करना चाहिए कि ''जिस तरह हम सुख से जीना चाहते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं' उसी तरह संसार के सभी छोटे-बड़े प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। हम सभी एक-दूसरे को कष्ट न देकर सुख पहुँचाने का ही प्रयत्न करें' इसी पवित्र भावना का नाम 'अहिंसा' है। भगवान महावीर के शब्दों में यही ''जिओ और जीने दो'' का सिद्धान्त है।

इन्हीं सब धार्मिक मान्यताओं में पले हुए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी कहा है-''चाहे कुछ भी हो, धर्म हमें अण्डे अथवा माँस खाने की आज्ञा कभी नहीं देता है।''

एक कवि की पंक्तियाँ भी उपर्युक्त समस्त अभिप्रायों की पुष्टि करती है—

है भला तेरा इसी में, मांस खाना छोड़ दे।
इस मुबारक पेट में, कबरें बनाना छोड़ दे।।

2.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-मूलगुण किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-आठ मूलगुण कितने प्रकार से बताए हैं ?

प्रश्न 3-आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कौन से आठ मूलगुण कहे हैं ?

प्रश्न 4-पाँच उदंबर फलों के नाम बताओ ?

प्रश्न 5-सिख, इस्लाम, पारसी, धर्मों में माँस भक्षण का किस प्रकार निषेध किया है ?

पाठ-3—श्रावक की षट् आवश्यक क्रियाएँ

3.1 **'देव-पूजा, गुरु-पास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।**
दानं चेति गृहस्थानां, षट्-कर्माणि दिने दिने।।''

देव-पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान गृहस्थों के प्रतिदिन के छः कार्य हैं अर्थात् गृहस्थों को इन छः कार्यों को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

जो पुरुष देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों के करने में तल्लीन रहता है, जिसका कुल उत्तम है, वह चूली, उखली, चक्की, बुहारी आदि गृहस्थ की नित्य षट् आरंभ क्रियाओं से होने वाले पाप से मुक्त हो जाता है तथा वही उत्तम श्रावक कहलाता है।

जो भव्य बिंबाफल के समान वेदी बनवाकर उसमें जौ प्रमाण प्रतिमा विराजमान करता है, वह मुक्ति को समीप कर लेता है।

3.2 देवपूजा—

पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुख करके और तिलक लगाकर जिनपूजन करना चाहिए।

पूजन से पूर्व भाव भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्र का अभिषेक करना चाहिए।

खण्डित वस्त्र, गला हुआ, फटा और मैला वस्त्र पहनकर दान-पूजन, होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे खंडित आदि वस्त्रों को पहनकर पूजन करने से उसका फल नहीं मिलता है।

पुष्प, धूप, दीप, फल आदि सचित्त द्रव्यों से भगवान की पूजा करने से पाप की संभावना कदापि नहीं रहती है, क्योंकि जो जिनपूजा असंख्य भवों के पापों को नष्ट करने में समर्थ है, उस पूजा से क्या यत् किंचित् पूजन के निमित्त से होने वाले सावद्य पाप नष्ट नहीं होंगे? अवश्य हो जायेंगे। हाँ! इतना अवश्य है कि प्रत्येक कार्यों में यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति होनी चाहिए।

'कुटुम्ब पोषण और भोगोपभोग के लिए किया गया आरंभ पाप उत्पन्न करने वाला होता है परन्तु दान, पूजा आदि धर्म कार्यों में किया गया आरंभ पाप बंध के लिए नहीं होता है।'

जो मनुष्य धनिया के पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिन प्रतिमा की स्थापना करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है?

पूजन के समय जिन भगवान के आगे जलधारा को छोड़ने से पापरूपी मैल का क्षालन होता है।

चन्दन के चर्चन से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अंत में मोक्ष सुख को पाता है।

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला, पुष्पों की सुन्दर मालाओं से समर्चित देह वाला कामदेव होता है।

नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, कान्ति और तेज से सम्पन्न, अति सुन्दर होता है।

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य, केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला केवली होता है।

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य त्रैलोक्यव्यापी यश वाला होता है।

फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाणरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

जिनमंदिर में घण्टा समर्पण करने से घण्टाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ सुरविमानों में जन्म लेता है।

मंदिर में छत्र प्रदान करने से पृथ्वी को एकछत्र भोगता है।

चमरों के प्रदान से उस पर चमर ढोरे जाते हैं।

जिन भगवान का अभिषेक करने से मनुष्य सुदर्शनमेरु पर क्षीरसागर के जल से इन्द्रों द्वारा अभिषेक को प्राप्त करता है।

जिनमंदिर में विजय पताकाओं के देने से सर्वत्र विजयी षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती होता है।

अधिक कहने से क्या? जिन पूजन के फल से संसार के सभी अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं और परम्परा से मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से संक्षेप में 'देवपूजा' नाम की आवश्यक क्रिया का वर्णन हुआ।

3.3 गुरु की उपासना-

''अपने मनोवांछित पदार्थ सिद्ध करने के लिए तथा इस लोकसंबंधी समस्त संशयरूप अंधकार का नाश करने के लिए एवं परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए गुरु की सेवा सदा करते रहना चाहिए।''

उत्तम, मध्यम, जघन्य कैसे ही मनुष्य हों परन्तु बिना गुरु के वे मनुष्य नहीं कहलाते, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट गुरु की सेवा अवश्य करते रहना चाहिए।

''गुरु भक्तिरूपी संयम से श्रावक घोर संसार समुद्र को पार कर लेते हैं और अष्ट कर्मों का छेदन कर देते हैं पुनः जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।''

निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनियों के पास जाकर उन्हें भक्ति से नमोस्तु करके उनकी स्तुति करके अष्टद्रव्य से पूर्ववत् पूजा करनी चाहिए। उनके मुख से धर्मोपदेश सुनना चाहिए। यदि अष्टद्रव्य से पूजा न कर सकें तो अक्षत, फलादि चढ़ाकर नमस्कार करना चाहिए।

3.4 स्वाध्याय-

स्वाध्याय भव्य जीवों को ज्ञान देने वाला है, उसके पाँच भेद हैं—**वाचना**—पढ़ना-पढ़ाना। **पृच्छना**—प्रश्न करना। **अनुप्रेक्षा**—पढ़े हुए का बार-बार चिंतवन करना। **आम्नाय**—शुद्ध पाठ रटना और **धर्मोपदेश**—धर्म का उपदेश देना।

3.5 संयम-

इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करना और जीवदया पालना संयम है। संयम के दो भेद हैं—इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम।

पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग करना और मन को वश में रखना इन्द्रिय संयम है। पाँच स्थावर और त्रसकाय ऐसे षट्काय के जीवों की दया पालना प्राणिसंयम है।

3.6 तप-

कर्म निर्जरा के लिए किया गया तपश्चरण 'तप' कहलाता है। तप के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह भेद हैं—**अनशन**—उपवास करना, **अवमौदर्य**—भूख से कम खाना, **व्रत्तपरिसंख्यान**—घर, गली अथवा अन्य पदार्थों का नियम करके आहार ग्रहण करना, **रसपरित्याग**—घी, दूध आदि रसों में एक, दो या सभी रसों का त्याग करना।

विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में या गुरु के सानिध्य में शयन आसन करना।

कायक्लेश—कुक्कुट आसन, पद्मासन, खड्गासन, प्रतिमायोग आदि से ध्यान करना।

अभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—

प्रायश्चित्त—व्रत आदि में दोष लग जाने से गुरु से उसका दण्ड लेना। **विनय**—रत्नत्रयधारकों की विनय करना, **वैयावृत्य**—आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि व्रतीजनों की सेवा करना, **स्वाध्याय**—शास्त्रों का पठन-पाठन आदि करना, **व्युत्सर्ग**—पापों के कारणरूप उपधि—परिग्रह का त्याग करना, **ध्यान**—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि प्रकार से ध्यान करना।

इन बारह प्रकार के तपों का एकदेशरूप से शक्ति के अनुसार श्रावकों को भी अनुष्ठान करना चाहिए। मुख्यतया इसका अनुष्ठान मुनियों में ही होता है।

3.7 दान

स्वपर के अनुग्रह के लिए धन का त्याग करना दान है।

दान के चार भेद हैं—आहारदान, शास्त्र दान (ज्ञानदान), औषधिदान, अभयदान।

उत्तम आदि पात्रों में इन चारों दानों को देना उत्तम दान है।

इस प्रकार से जो गृहस्थ श्रावक नित्यप्रति षट् आवश्यक क्रियाओं को आदरपूर्वक करता है, वह चक्की, उखली, चूल्ही, बुहारी और जल भरना, गृहारम्भ के इन पाँच पापों से और द्रव्य कमाना इस छठे पाप से अर्थात् षट् आरंभजनित पापों से छूट जाता है।

इस तरह उमास्वामी श्रावकाचार के अनुसार इन छट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी रयणसार में कहते हैं कि—

सुपात्र को चार प्रकार का दान देना और श्री देवशास्त्रगुरु की पूजा करना श्रावकधर्म में श्रावक के ये दो कर्त्तव्य प्रमुख हैं, इन दो कर्त्तव्यों के बिना श्रावक नहीं हो सकता है, वैसे ही मुनियों के कर्त्तव्यों में ध्यान और अध्ययन ये दो कर्त्तव्य मुख्य हैं, इन दो कार्यों के बिना मुनि, मुनि नहीं हो सकता है।

पूजा के फल से यह मनुष्य तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है और सुपात्र दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

3.7.1 आहारदान की महिमा-

आहारदान में प्रसिद्ध **अकृतपुण्य** के उदाहरण को देखें—

भोगवती नगरी के राजा कामवृष्टि की रानी मिष्टदाना के गर्भ में पापी बालक के आते ही राजा की मृत्यु हो गई और राजा के नौकर सुकृतपुण्य के हाथ में राज्य चला गया। माता ने बालक को पुण्यहीन समझकर उसका नाम 'अकृतपुण्य' रख दिया और परायी मजदूरी करके उसका पालन किया। किसी समय बालक सुकृतपुण्य के खेत पर काम करने के लिए चला गया। राजा ने उसे अपने स्वामी का पुत्र समझकर बहुत कुछ दीनारें दीं किन्तु उसके हाथ में आते ही अंगारे हो गईं। तब उसको उसकी इच्छानुसार चने दे दिये। माता ने इस घटना से देश छोड़ दिया और सीमवाक गांव के बलभद्र नामक जैन श्रावक के यहाँ भोजन बनाने का काम करने लगी। सेठ के बालकों को खीर खाते देखकर वह अकृतपुण्य भी खीर मांगा करता था। तब एक दिन सेठ के लड़कों ने बालक को थप्पड़ों से मारा। सेठ ने उक्त घटना को जानकर बहन मिष्टदाना को खीर बनाने के लिए सारा सामान दे दिया। माता ने खीर बनाकर बालक से कहा—बेटा! मैं पानी भरने जाती हूँ, इसी बीच में यदि कोई मुनिराज आवें तो उन्हें रोक लेना, मैं मुनिराज को आहार देकर तुझे खीर खिलाऊँगी। भाग्य से सुव्रत मुनिराज उधर आ गये। बालक ने कहा—मुनिराज! आप रुको, मेरी माँ ने खीर बनाई है, आपको आहार

देंगी। मुनिराज के न रुकने से बालक ने जाकर उनके पैर पकड़ लिये और बोला— 'देखूँ अब कैसे जाओगे?'

उधर माता ने आकर पड़गाहन करके विधिवत् आहार दिया। बालक आहार देख-देखकर बहुत प्रसन्न हो रहा था। मुनिराज अक्षीण ऋद्धिधारी थे। उस दिन खीर का भोजन समाप्त ही नहीं हुआ। तब मिष्टदाना ने सपरिवार सेठ जी को, अनंतर सारे गाँव को जिमा दिया, फिर भी खीर ज्यों की त्यों रही।

अगले दिन बालक वन में गाय चराने गया था। वहाँ उसने मुनि का उपदेश सुना। रात्रि में व्याघ्र ने उसे खा लिया। आहार देखने के प्रभाव से वह अकृतपुण्य मरकर स्वर्ग में देव हो गया।

पुन: उज्जयिनी नगरी के सेठ धनपाल की पत्नी प्रभावती के धन्य कुमार नाम का पुण्यशाली पुत्र हो गया। जन्म के बाद नाल गाड़ने को जमीन खोदते ही धन का घड़ा निकला। धन्यकुमार जहाँ-जहाँ हाथ लगाता, वहाँ धन ही धन हो जाता था। आगे चलकर यह धन्यकुमार नवनिधि का स्वामी हो गया और असीम धन वैभव को भोगकर पुन: दीक्षा लेकर अंत में सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र पद पाया। यह है आहार दान का प्रभाव! जिससे महापापी अकृतपुण्य धन्य- कुमार हो गया।

3.7.2 औषधि दान में प्रसिद्ध कहानी-

उत्तम आदि पात्रों को किसी प्रकार का रोग हो जाने पर शुद्ध प्रासुक औषधि का दान देना औषधि दान है। यह दान भव-भव में नीरोग शरीर प्रदान करके अंत में मोक्ष प्रदान करने वाला है। प्राणियों के कलेवर आदि से बनी हुई अशुद्ध औषधियों के दान से पुण्य के बजाय पाप बंध हो जाता है।

उदाहरण—

(वृषभसेना)

किसी समय मुनिदत्त योगिराज महल के पास एक गड्ढे में ध्यान में लीन थे। नौकरानी ने उन्हें हटाना चाहा। जब वे नहीं उठे, तब उसने सारा कचरा इकट्ठा करके मुनि पर डाल दिया। प्रात: राजा ने वहाँ से मुनि को निकालकर विनय से सेवा की। उस समय नौकरानी नागश्री ने भी पश्चात्ताप करके मुनि के कष्ट को दूर करने हेतु उनकी औषधि की और मुनि की भरपूर सेवा की। अंत में मरकर यह वृषभसेना हुई। जिसके स्नान के जल से सभी प्रकार के रोग-विष नष्ट हो जाते थे। आगे चलकर वह राजा उग्रसेन की पट्टरानी हो गई। किसी समय रानी के शील में आशंका होने से राजा ने उसे समुद्र में गिरवा दिया किन्तु रानी के शील के माहात्म्य से देवों ने सिंहासन पर बैठाकर उसकी पूजा की।

देखो! नौकरानी ने जो मुनि पर उपसर्ग किये थे उसके फलस्वरूप उसे रानी अवस्था में भी कलंकित होना पड़ा और जो उसने मुनि की सेवा करके औषधिदान दिया था उसके प्रभाव से उसे रोगनिवारण की यह शक्ति विशेष प्राप्त हुई कि जिसके प्रभाव से उसके स्नान के जल से सभी के कुष्ट आदि भयंकर रोग और विष आदि दूर हो जाते थे। इसलिए औषधिदान अवश्य देना चाहिए।

3.7.3 शास्त्रदान का लक्षण, फल और कथा-

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित और गणधर आदि मुनियों द्वारा रचित शास्त्र को सच्चे शास्त्र कहते हैं। ऐसे आचार्यप्रणीत निर्दोष आगम-ग्रंथों को मुद्रण कराकर उत्तम पात्रों को देना या विद्यालय खोलना, धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था करना आदि शास्त्रदान या ज्ञानदान कहलाता है। इस ज्ञानदान के फल से निश्चित केवलज्ञान प्राप्त होता है।

उदाहरण—

(कौंडेश मुनिराज)

कुरुमरी गाँव के एक ग्वाले ने एक बार जंगल में वृक्ष की कोटर में एक जैन ग्रंथ देखा। उसे ले जाकर उसकी खूब पूजा करने लगा। एक दिन मुनिराज को उसने वह ग्रंथ दान में दे दिया। वह ग्वाला मरकर उसी गाँव के चौधरी का पुत्र हो गया। एक दिन उन्हीं मुनि को देखकर जातिस्मरण हो जाने से उन्हीं से दीक्षित होकर मुनि हो गया। कालान्तर में वह

जीव राजा कौंडेश हो गया। राज्य सुखों को भोगकर राजा ने मुनि दीक्षा ले ली। ग्वाले के जन्म में शास्त्र दान किया था, उसके प्रभाव से वे मुनिराज थोड़े ही दिनों में द्वादशांग के पारगामी श्रुतकेवली हो गये। वे केवली होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसलिए ज्ञानदान सदा ही देना चाहिए।

3.7.4 अभयदान का लक्षण और फल-

उत्तम आदि पात्रों को धर्मानुकूल वसतिका में ठहराना अथवा नयी वसति बनवाकर साधुओं के लिए सुविधा कराना वसतिदान या अभयदान है। इस दान के प्रभाव से प्राणी निर्भय होकर मोक्षमार्ग के विघ्नों को दूर करके निर्भय मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

उदाहरण—

(सूकर)

एक गाँव में एक कुम्हार और नाई ने मिलकर एक धर्मशाला बनवाई। कुम्हार ने एक दिन एक मुनिराज को लाकर धर्मशाला में ठहरा दिया। तब नाई ने दूसरे दिन मुनि को निकालकर एक सन्यासी को लाकर ठहरा दिया। इस निमित्त से दोनों लड़कर मरे और कुम्हार का जीव सूकर हो गया तथा नाई का जीव व्याघ्र हो गया। एक बार जंगल की गुफा में मुनिराज विराजमान थे। पूर्व संस्कार से वह व्याघ्र उन्हें खाने को आया और सूकर ने उन्हें बचाना चाहा। दोनों लड़ते हुए मर गये। सूकर के भाव मुनिरक्षा के थे अतः वह मरकर देवगति को प्राप्त हो गया और व्याघ्र हिंसा के भाव से मरकर नरक में चला गया।

देखो! वसतिदान के माहात्म्य से सूकर ने स्वर्ग प्राप्त कर लिया।

विशेष—समंतभद्र स्वामी ने ज्ञानदान (शास्त्रदान) की जगह उपकरण दान और अभयदान की जगह आवासदान ऐसा कहा है। अतः इस उपकरण दान में मुनि-आर्यिका आदि को पिच्छी-कमण्डलु देना, आर्यिका-क्षुल्लिका को साड़ी, ऐलक-क्षुल्लक को कोपीन-चादर आदि देना तथा लेखनी, स्याही, कागज आदि देना भी उपकरणदान कहलाता है।

अन्य ग्रंथों में दान के दानदत्ति, दयादत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ऐसे भी चार भेद किये गये हैं। उपर्युक्त विधि से पात्रों को चार प्रकार का दान देना सो **दानदत्ति** है।

दीन, दुःखी, अंधे, लंगड़े, रोगी आदि को करुणापूर्वक भोजन, वस्त्र औषधि आदि दान देना **दयादत्ति** है।

अपने समान श्रावकों को कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना **समदत्ति** है। अपने पुत्र को घर का भार सौंपकर आप निश्चिन्त हो धर्माराधन करना यह **अन्वयदत्ति** है।

3.8 श्रावक के चिन्ह-

यद्यपि जैन गृहस्थों के लिये छः आवश्यक क्रियाएँ बताई गई हैं जिनका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है, फिर भी श्रावक की पहचान हेतु 3 चिन्ह बताये गये हैं, जैसा कि निम्न पद से स्पष्ट है-

'जल-छानन, तजि निशि असन, श्रावक चिन्ह जु तीन ।
प्रतिदिन जो दर्शन करे, सो जैनी परवीन।।'

इस प्रकार जैन श्रावक के 3 चिन्ह हैं-

(1) पानी छानकर पीना।

(2) रात्रि भोजन का त्याग, और

(3) प्रतिदिन देव दर्शन। (इन तीनों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है)

श्रावक की 53 क्रियाएँ-

मूलगुण 8, व्रत 12, तप 12, प्रतिमा 11, दान 4, रत्नत्रय 3, रात्रि-भोजन त्याग, समताभाव और पानी छानकर पीना- ये श्रावक की 53 क्रियाएँ हैं।

3.9 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक के षट् आवश्यक कौन से हैं ?

प्रश्न 2-स्वाध्याय, संयम और तप इन आवश्यक क्रियाओं के लक्षण बताओ ?

प्रश्न 3-दान कितने प्रकार का होता है ? नाम बताओ ?

प्रश्न 4-दातार के 7 गुण कौन से होने चाहिए ?

प्रश्न 5-जैन श्रावक के मुख्य चिन्ह क्या हैं ?

प्रश्न 6-दान का क्या लक्षण है?

प्रश्न 7-पात्र के कितने भेद हैं?

प्रश्न 8-नवधा भक्ति के नाम और लक्षण बताओ?

प्रश्न 9-अकृतपुण्य और सुकृतपुण्य कौन-कौन थे?

प्रश्न 10-अक्षीणऋद्धि का क्या फल है?

प्रश्न 11-वृषभसेना ने पूर्व जन्म में क्या पुण्य किया था जिससे उसके स्नान के जल से भी दूसरों के रोग दूर हो जाते थे ?

प्रश्न 12-शास्त्रदान का क्या फल है?

प्रश्न 13-अभयदान का लक्षण बताओ?

प्रश्न 14-उपकरणदान में क्या-क्या दे सकते हैं?

प्रश्न 15-सूकर और व्याघ्र कौन थे और मरकर कहाँ गये?

प्रश्न 16-दानदत्ति और दयादत्ति में क्या अन्तर है?

पाठ-4 – सात व्यसन त्याग एवं अभक्ष्य त्याग

जिस काम को बार-बार करने की आदत पड़ जाती है, उसे व्यसन कहते हैं। यहाँ बुरी आदत को व्यसन कहा है अथवा दुःखों को व्यसन कहते हैं। यहाँ उपचार से दुःखों के कारणों को भी व्यसन कह दिया है। ये व्यसन सात हैं–

जुआ खेलन, मांस, मद, वेश्यागमन, शिकार।
चोरी, पररमणी रमण, सातों व्यसन निवार ।।

4.1 जुआ खेलना-

जिसमें हार-जीत का व्यवहार हो, उसे जुआ कहते हैं। यह रुपये-पैसे लगाकर खेला जाता है। यह सभी व्यसनों का मूल है और सब पापों की खान है। इस लोक में अग्नि, विष, सर्प, चोरादि तो अल्प दुःख देते हैं किन्तु जुआ व्यसन मनुष्यों को हजारों भवों तक दुःख देता रहता है।

उदाहरण—हस्तिनापुर के राजा धृतराज के धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर ये तीन पुत्र थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए और पांडु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पांच पुत्र हुए। दुर्योधन आदि कौरव तथा युधिष्ठिर आदि पांडव कहलाते थे ये सब शामिल ही राज्य करते थे।

कुछ दिन बाद कौरवों की पांडवों के प्रति ईर्ष्या देखकर भीष्म पितामह आदि बुजुर्गों ने कौरवों और पांडवों में आधा-आधा राज्य बांट दिया किन्तु इस पर दुर्योधन आदि कौरव अशांति किया करते थे।

किसी समय कौरव और पांडव जुआ खेलने लगे, उस समय दैववश दुर्योधन से युधिष्ठिर हार गये, यहाँ तक कि अपना राज्य भी जुए में हार गये। तब दुर्योधन ने दुष्टतावश बारह वर्ष तक उन्हें वन में घूमने का आदेश दे दिया और दुःशासन ने द्रौपदी की चोटी पकड़कर घसीट कर भारी अपमान किया किन्तु शील शिरोमणि द्रौपदी का वह कुछ भी बिगाड़ न सका। पांचों पांडव द्रोपदी को साथ लेकर बारह वर्ष तक इधर-उधर घूमे और बहुत ही दुःख उठाये। इसलिये जुआ खेलना महापाप है।

बालकों! तुम्हें भी जुआ कभी नहीं खेलना चाहिये। इससे लोभ बढ़ता चला जाता है पुनः आगे जाकर धर्म और धन दोनों का सर्वनाश हो जाता है।

4.2 मांस खाना-

कच्चे, पके हुए या पकते हुए किसी भी अवस्था में माँस के टुकड़े या अण्डे में अनंतानंत त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। यह प्रत्यक्ष में ही महानिंद्य है, अपवित्र है। इसके छूने मात्र से ही अनंत जीवों की हिंसा हो जाती है। माँस खाने वाले महापापी कहलाते हैं और अंत में दुर्गति में चले जाते हैं।

उदाहरण—किसी समय पाँचों पांडव माता कुन्ती सहित श्रुतपुर नगर में एक वणिक के यहाँ ठहर गये। रात्रि में उसकी स्त्री का करुण क्रंदन सुनकर माता कुन्ती ने कारण पूछा, उसने कहा–माता! इस नगर का बक नामक राजा मनुष्य का माँस खाने लगा था। तब नगर के लोगों ने उसे राज्य से हटा दिया। तब भी वह वन में रहकर मनुष्यों को मार-मारकर खाने लगा। तब लोगों ने यह निर्णय किया कि प्रतिदिन बारी-बारी से एक-एक घर में से एक- एक मनुष्य देना चाहिये, दुर्भाग्य से आज मेरे बेटे की बारी है।

इतना सुनकर कुन्ती ने भीम से सारी घटना बताई। प्रातः काल भीम ने उसके लड़के की बारी में स्वयं पहुँचकर बक राजा के साथ भयंकर युद्ध करके उसे समाप्त कर दिया। वह मरकर सातवें नरक में चला गया, जो कि वहाँ पर आज तक दुःख उठा रहा है।

देखो बालकों! माँस अंडे तो क्या, शक्कर की बनी हुई मछली आदि आकार की बनी मिठाई भी नहीं खानी चाहिये, उसमें भी पाप लगता है।

4.3 मदिरापान करना-

गुड़, महुआ आदि को सड़ाकर शराब बनाई जाती है। इसमें प्रतिक्षण अनंतानंत सम्मूर्छन त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसमें मादकता होने से पीते ही मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इस मदिरापान से लोग माँस खाना, वेश्या सेवन करना आदि पापों से नहीं बच पाते हैं और सभी व्यसनों के शिकार बन जाते हैं।

उदाहरण—किसी समय भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि से श्रीकृष्ण को मालूम हुआ कि बारह वर्ष बाद शराब के निमित्त से द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका नगरी भस्म हो जावेगी। तब श्रीकृष्ण ने आकर सारी मद्य सामग्री और मदिरा को गाँव के बाहर कन्दराओं में फिकवा दिया। अनंतर बारह वर्ष बीत चुके हैं, ऐसी भ्रान्तिवश कुछ दिन पहले ही द्वीपायन मुनि द्वारिका के बाहर आकर ध्यान में लीन हो गये।

इधर शंबु आदि यादव कुमारों ने वनक्रीड़ा में प्यास से व्याकुल होकर कन्दराओं में संचित मदिरा को जल समझकर पी लिया। फिर क्या था, वे सब उन्मत्त हुए आ रहे थे, मार्ग में द्वीपायन मुनि को देखकर उपसर्ग करना व बकना प्रारम्भ कर दिया।

मुनिराज ने बहुत कुछ सहन किया, अंत में उनके क्रोध की तीव्रता से तैजस पुतला निकला और धू-धू करते हुए सारी द्वारिका को भस्मसात् कर दिया।

उस समय वहाँ का दृश्य कितना करुणाप्रद्र होगा, उसका वर्णन कौन कर सकता है। मात्र श्री कृष्ण और बलभद्र ही वहां से बचकर निकल सके थे।

पाठकों! इस शराब व्यसन की हानि को पढ़कर इसका त्याग कर देना ही उचित है।

4.4 वेश्यागमन करना-

वेश्या के घर आना-जाना, उसके साथ रमण करना, वेश्या सेवन कहलाता है। जो कोई मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है वह भील, चाण्डाल आदि का झूठा खाता है, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि वेश्या इन सभी नीच लोगों के साथ समागम करती है। वेश्यागामी लोग व्यभिचारी, लुच्चे, नीच कहलाते हैं। इस भव में कीर्ति और धन का नाश करके परभव में दुर्गति में चले जाते हैं।

उदाहरण—चम्पापुरी के भानुदत्त सेठ और भार्या देविला के चारुदत्त नाम का पुत्र था। वह सदैव धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने में अपना समय व्यतीत करता रहता था। वहीं के सेठ सिद्धार्थ ने अपनी पुत्री मित्रवती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया किन्तु चारुदत्त अपने पढ़ने-लिखने में इतना मस्त था कि अपनी पत्नी के पास बहुत दिन तक गया ही नहीं।

तब चारुदत्त का चाचा रुद्रदत्त अपनी भावज की प्रेरणा से उसे गृहस्थाश्रम में फंसाने हेतु एक बार वेश्या के यहां ले गया और उसे चौपड़ खेलने के बहाने वहीं छोड़कर आ गया।

उधर चारुदत्त ने वसंतसेना वेश्या में बुरी तरह फंसकर कई करोड़ की सम्पत्ति समाप्त करके घर भी गिरवी रख दिया। अंत में वसंतसेना की माता ने चारुदत्त को धन रहित जानकर रात्रि में सोते में उसको बांधकर विष्टागृह (पाखाने) में डाल दिया। सुबह नौकरों ने देखा कि सूकर उसका मुख चाट रहे हैं। तब विष्टागृह से निकालकर उसकी घटना सुनकर सब उसे धिक्कारने लगे।

देखो! वेश्यासेवन का दुष्परिणाम कितना बुरा होता है। इसलिये इस व्यसन से बहुत ही दूर रहना चाहिए।

4.5 शिकार करना-

रसना इन्द्रिय की लोलुपता से या अपना शौक पूरा करने के लिये अथवा कौतुक के निमित्त बेचारे निरपराधी, भयभीत, वनवासी पशु-पक्षियों को मारना शिकार कहलाता है। भय के कारण हमेशा भागते हुए और घास खाने वाले ऐसे मृगों को निर्दयी लोग कैसे मारते हैं ? यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है! इस पाप के करने वाले मनुष्य भी अनंतकाल तक संसार में दु:ख उठाते हैं।

उदाहरण—उज्जयिनी के राजा ब्रह्मदत्त शिकार खेलने के बड़े शौकीन थे। एक दिन वन में ध्यानारूढ़ दयामूर्ति मुनिराज के निमित्त से उन्हें शिकार का लाभ नहीं हुआ। दूसरे दिन भी ऐसे ही शिकार न मिलने से राजा क्रोधित हो गया और मुनिराज आहारचर्या के लिए गये, तब उसने बैठने की पत्थर की शिला को अग्नि से तपाकर खूब गरम कर दिया।

मुनिराज आहार करके आये और उसी पर बैठ गये। उसी समय अग्निसदृश गरम शिला से उपसर्ग समझकर उन्होंने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया। उस गरम शिला से मुनिराज को असह्य वेदना हुई फिर भी वे आत्मा को शरीर से भिन्न समझते हुए ध्यान अग्नि के द्वारा कर्मों का नाश करके अन्तकृत्केवली हो गये अर्थात् 48 मिनट के अंदर ही केवली होकर मोक्ष चले गये।

इधर सात दिन के अंदर ही राजा को भयंकर कुष्ट हो जाने से वह अग्नि में जलकर मरकर सातवें नरक में चला गया, वहाँ से निकलकर तिर्यंचगति में दु:खों को भोगकर पुन: नरक में चला गया।

देखो बालकों! शिकार खेलने का फल भव-भव में दु:ख देने वाला होता है, इसलिए इससे दूर ही रहना उचित है।

4.6 चोरी करना-

बिना दिये हुए किसी की कोई भी वस्तु ले लेना चोरी है। पराये धन को अपहरण करने वाले मनुष्य इस लोक और परलोक में अनेकों कष्टों को सहन करते हैं। चोरी करने वाले का अन्य मनुष्य तो क्या, खास माता-पिता भी विश्वास नहीं करते। चोर को राजाओं द्वारा भी अनेकों दण्ड मिलते हैं।

उदाहरण—बनारस में शिवभूति ब्राह्मण था, उसने अपनी जनेऊ में कैंची बाँध ली और कहता कि यदि मेरी जिह्वा झूठ बोल दे तो मैं उसी क्षण उसे काट डालूँ इसीलिए उसका नाम सत्यघोष प्रसिद्ध हो गया था।

एक बार सेठ धनपाल पाँच-पाँच करोड़ के चार रत्न उसके पास धरोहर में रखकर धन कमाने चला गया। जहाज डूब जाने से बेचारा निर्धन हुआ सत्यघोष के पास अपने रत्न माँगने आया। सत्यघोष ने उसे पागल कहकर वहाँ से निकलवा दिया। छह महीने तक उस सेठ को रोते-चिल्लाते देखकर रानी ने युक्तिपूर्वक उसके रत्न सत्यघोष से मंगवा लिए। राजा ने सत्यघोष के लिए तीन दंड कहे-गोबर खाना या मल्लों के मुक्के खाना या सब धन देना। क्रम से वह लोभी तीनों दंड भोगकर मरकर राजा के भंडार में सर्प हो गया तथा कालांतर में अनेकों दु:ख उठाये हैं।

देखो! चोरी करना बहुत ही बुरा है। बचपन में 2-4 रुपये आदि की या किसी की पुस्तक आदि की ऐसी छोटी-छोटी चोरी भी नहीं करनी चाहिये।

4.7 पर-स्त्री सेवन करना-

धर्मानुकूल अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय दूसरी स्त्रियों के साथ रमण करना पर-स्त्री सेवन कहलाता है। परस्त्री की अभिलाषामात्र से ही पाप लगता है, तो फिर उसके सेवन करने से महापाप लगता ही है।

उदाहरण—एक समय श्री रामचंद्र जी, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक वन में ठहरे हुए थे। वहाँ पर खरदूषण के युद्ध में रावण गया था तब उसने सीता को देखा, उसके ऊपर मुग्ध होकर युक्ति से उसका हरण कर लिया, सभी के समझाने पर भी जब नहीं माना, तब रामचंद्र ने लक्ष्मण को साथ लेकर अनेकों विद्याधरों की सहायता से रावण से युद्ध

ठान दिया। बहुत ही भयंकर युद्ध हुआ।

अंत में रावण ने अपने चक्ररत्न को लक्ष्मण पर चला दिया। वह चक्ररत्न लक्ष्मण की प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया। लक्ष्मण ने उस समय भी रावण से कहा कि तुम सीताजी को वापस कर दो। रावण नहीं माना, तब लक्ष्मण ने चक्ररत्न से रावण का मस्तक काट डाला, वह मरकर नरक में चला गया और वहाँ पर आज तक असंख्य दुःखों को भोग रहा है।

देखो! जब पर-स्त्री की अभिलाषामात्र से रावण नरक में चला गया, तब जो पर-स्त्री सेवन करते हैं वे तो महान दुःख भोगते ही हैं, ऐसा समझकर इन पापों से सदैव बचना चाहिये।

4.8 अभक्ष्य त्याग-

अभक्ष्य-जो पदार्थ भक्षण करने अर्थात् खाने योग्य नहीं होते हैं उन्हें अभक्ष्य कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं — त्रस हिंसाकारक, बहुस्थावर हिंसाकारक, प्रमादकारक, अनिष्ट और अनुपसेव्य।

(1) जिस पदार्थ के खाने से त्रस जीवों का घात होता है, उसे त्रस हिंसाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे — पंच उदुम्बर फल, घुना अन्न, अमर्यादित वस्तु जिनमें बरसात में फफून्दी लग जाती है ऐसी कोई भी खाने की चीजें, चौबीस घंटे के बाद का मुरब्बा, अचार, बड़ी, पापड़ और द्विदल आदि के खाने से त्रस जीवों का घात होता है। कच्चे दूध में या कच्चे दूध से बने हुए दही में दो दाल वाले मूंग, उड़द, चना आदि अन्न की बनी चीज मिलाने से द्विदल बनता है।

(2) जिस पदार्थ के खाने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है, उसे स्थावर हिंसाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे — प्याज, लहसुन, आलू, मूली आदि कन्दमूल तथा तुच्छ फल खाने से अनंतों स्थावर जीवों का घात हो जाता है।

एक निगोदिया जीव के शरीर में अनंतानंत सिद्धों से भी अनंतगुणे जीव रहते हैं और एक आलू आदि में अनंत निगोदिया जीव हैं। इसलिये इन कन्दमूल आदि का त्याग कर देना चाहिए।

(3) जिसके खाने से प्रमाद या कामविकार बढ़ता है, वे प्रमादकारक अभक्ष्य हैं। जैसे शराब, भंग, तम्बाकू, गांजा और अफीम आदि नशीली चीजें। ये स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक हैं।

(4) जो पदार्थ भक्ष्य होने पर भी अपने लिए हितकर न हों, वे अनिष्ट हैं। जैसे बुखार वाले को हलुवा एवं जुखाम वाले को ठण्डी चीजें हितकर नहीं हैं।

(5) जो पदार्थ सेवन करने योग्य न हों, वे अनुपसेव्य हैं। जैसे — लार, मूत्र आदि पदार्थ।

अभक्ष्य बाईस भी माने गये हैं —

ओला घोर बड़ा निशि भोजन, बहुबीजा बैंगन संधान।
बड़ पीपर ऊमर कठऊमर, पाकर फल या होय अजान।।
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अतितुच्छ तुषार चलित रस, ये बाईस अभक्ष्य बखान।।

ओला, दही बड़ा (कच्चे दूध से जमाये दही का बड़ा), रात्रि भोजन, बहुबीजा, बैंगन, अचार (चौबीस घण्टे बाद का) बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, अंजानफल, (जिसको हम पहचानते नहीं, ऐसे कोई फल-फूल-पत्ते आदि), कंदमूल (मूली, गाजर, आदि जमीन के भीतर लगने वाले), मिट्टी, विष (शंखिया, धतूरा आदि), आमिष — मांस, शहद, मक्खन, मदिरा, अतितुच्छ फल (जिसमें बीज नहीं पड़े हों, ऐसे बिल्कुल कच्चे छोटे-छोटे फल) तुषार — बर्फ और चलित रस (जिनका स्वाद बिगड़ जाये, ऐसे फटे हुये दूध आदि) ये सब अभक्ष्य हैं।

मक्खन भी अभक्ष्य है, क्योंकि दही बिलौने के बाद मक्खन को निकालकर 48 मिनट के अंदर ही गर्म कर लेना चाहिये, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जाता है। अथवा कच्चे दूध से भी जो यन्त्र से मक्खन निकाला जाता है, उसमें भी कच्चे

दूध की मर्यादा के अन्दर मक्खन निकालकर जल्दी से गर्म करके घी बना लेना चाहिये।

बाजार की बनी हुई चीजों में मर्यादा आदि का विवेक न रहने से, अनछने जल आदि से बनाई होने से वे सब अभक्ष्य हैं। अर्क, आसव, शर्बत आदि भी अभक्ष्य हैं। चमड़े में रखे घी, हींग, पानी आदि भी अभक्ष्य हैं। इसलिए इन अभक्ष्यों का त्याग कर देना चाहिये।

4.9 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-सात व्यसन के नाम बताओ ?

प्रश्न 2-पांडवों को जुआ का क्या फल मिला ?

प्रश्न 3-माँस खाने में क्या दोष है और उसका फल किसको मिला ?

प्रश्न 4-वेश्यासेवन से क्या-क्या हानि होती है ?

प्रश्न 5-चोरी करने से क्या हानि होती है ?

प्रश्न 6-वेश्या सेवन और पर-स्त्री सेवन में क्या अंतर है ?

प्रश्न 7-अभक्ष्य के कितने भेद होते हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 8-बाईस अभक्ष्य के नाम गिनाओ ?

पाठ-5—षोडश संस्कार

5.1 जैसे खान में से निकला स्वर्ण पाषाण योग्य निमित्त पाकर मूल्यवान बन जाता है और ईंट, चूना, सीमेंट आदि वस्तुएँ कारीगर के संयोग से सुन्दर महल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार मानव पर्याय में गर्भ में आते ही बालक-बालिकाओं उपयोगी संस्कार मिल जावें तो वे योग्य बन सकते हैं।

प्रथम तो माता-पिता के रज-वीर्य से बनने वाला पिण्ड, जहाँ जीव आता है, उस पर माता-पिता के जीवन का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के पश्चात् माता के सद्विचार, आचार एवं आहार-विहार के प्रभाव से बालक की शक्तियाँ दृढ़ होती हैं। जैसे कच्चे गेहूँ और चने को सूर्य की धूप-पानी आदि पका देते हैं उसी प्रकार अपने बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करने के लिए उचित निमित्त (संस्कार विधि) की आवश्यकता है।

माता के गर्भ में उत्पन्न होने के पश्चात् और गर्भ में आने के पूर्व संस्कारों का जो महत्व है तथा जिनसे जीवन निर्माण होता है, वे संस्कार सोलह प्रकार के होते हैं, अतः इन्हें षोडश संस्कार के नाम से जाना जाता है।

बिना साफ की गई भूमि में जिस प्रकार बीज फलीभूत नहीं होता, उसी प्रकार यह जीवित शरीर, विधिपूर्वक संस्कारों के बिना संयम, व्रत और शुभाचरण का पात्र नहीं होता।

गर्भ में आने वाले बालक को उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों की दृढ़ता और कमजोरी माता द्वारा प्राप्त होती है। माता के मन, वचन, काय की क्रिया का असर संतान के ऊपर पड़ता है, अतः माता को विवेकशील और धर्मात्मा होना चाहिए।

संतान के पूर्वोपार्जित कर्म, उसके निर्माण में अन्तरंग निमित्त हैं और बाह्य निमित्त अन्य सामग्री होती है। जैसे माता के आहार का अंश गर्भस्थित संतान को प्राप्त होता है, जिससे उसके शरीर को पोषण मिलता है साथ ही उसके विचारों व क्रियाओं का उस पर असर होता है, अतः बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए योग्य माताओं के समान शास्त्रानुसार धार्मिक संस्कारों की आवश्यकता है। ये संस्कार वैज्ञानिक दृष्टि से भी द्रव्य परमाणु की शक्ति की अपेक्षा से बच्चों के मन, वचन और शरीर के भीतर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

5.2 प्रथम गर्भाधान संस्कार—

विवाह केवल विषयाभिलाषा से ही नहीं, अपितु पुत्रोत्पत्ति एवं गार्हस्थ्य जीवन में परस्पर सहयोग द्वारा सदाचरण, लोकसेवा तथा आत्मोन्नति के उद्देश्य से किया जाता है।

स्त्री को मासिक धर्म के तीन दिन, एकान्त में बिना किसी को स्पर्श किये, व्यतीत करना चाहिए। वह चौथे दिन स्नान कर घर के भोजन आदि विशेष कार्यों को न करते हुए बारह भावना का चिन्तवन करती रहे और साधारण कामकाज में भाग लेती रहे। पाँचवें दिन शुद्ध होकर मंदिर में जाकर जिनेन्द्र दर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि करे। इस प्रकार उसे व्यवहार दृष्टि से 3 दिन और धर्म की दृष्टि से चार दिन की अशुद्धि पालनी चाहिए।

गर्भाधान के पूर्व संस्कार विधि में विनायक यंत्रपूजा व हवन में गृहस्थाचार्य निम्नलिखित विशिष्ट मंत्रों से आहुति देते हुए पति-पत्नी पर आशीर्वादरूप में पीले चावल क्षेपण करें—

"सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव।" पश्चात् पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधि भक्ति व समापन पाठ पढ़कर पूजा पूर्ण करें। अन्त में सौभाग्यवती स्त्रियों से आशीर्वाद ग्रहण करें।

5.3 द्वितीय प्रीति संस्कार—

गर्भ के दिन से तीसरे माह में गर्भाधान क्रिया के अनुसार विनायक यंत्र पूजा, 112 आहुतियों से हवन, पुण्याहवाचन,

शान्तिपाठ, समाधि पाठ, क्षमापान करके हवन के नीचे लिखे खास मंत्रों की आहुति देवें और पति-पत्नी पर पुष्पक्षेपण करें।

''त्रैलोक्यनाथो भव, त्रिकालज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव', इसी समय ''ॐ कंठ व्हः पः असि आ उसा गर्भार्भकं प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा' यह मंत्र तीन बार पढ़कर गर्भवती पर पति द्वारा जलसेचन करावें।

5.4 तृतीय सुप्रीति संस्कार—

गर्भाधान के पाँचवें माह में यह सुप्रीति या पुँसवन क्रिया श्रवण, रोहिणी, पुष्य नक्षत्र, रवि, मंगल, गुरु, शुक्रवार, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 12, 13 तिथि के मुहूर्त में करें। इसमें पूर्ववत् पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करके निम्न प्रकार खास मंत्रों से आहुति व पुष्पों से आशीर्वाद देवें।

'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभागी भव, निष्क्रांति कल्याणभागी भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, परमनिर्वाण कल्याणभागीभव'। इसी समय पति, पत्नी के सिर की माँग में सिंदूर और 108 जौ के दानों की पहले से तैयार कराई गई माला 'ॐ झं वं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः कान्तागले यवमालां क्षिपामि झौं स्वाहा' मंत्र पढ़कर पत्नी के गले में पहनावें। पत्नी अपनी आँखों में अंजन लगावें।

5.5 चतुर्थ धृति या सीमंतोन्नयन संस्कार—

यह क्रिया सातवें माह में शुभ मुहूर्त मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मूल, उत्तरात्रय, रोहिणी, रेवती इन में से किसी नक्षत्र में व रवि, मंगल, गुरु इन वारों तथा 1, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 13 इन तिथियों में किसी तिथि में करें। इसका दूसरा नाम खोला भरना है। इसमें पहले के समान पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करें। नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व आशीर्वाद देवें—

सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहस्थदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

अनन्तर पुत्र वाली सौभाग्यवती स्त्री द्वारा तेल व सिंदूर में डुबोकर शमी (सोना) वृक्ष की समिधा (सींक) से गर्भिणी पत्नी के केशों की माँग भरी जावे। इसी दिन गोद (खोल) में श्रीफल, मेवा, फल आदि भराकर पति-पत्नी या केवल पत्नी महिलाओं के साथ जिनमंदिर जावें।

5.6 पंचम मोद संस्कार—

यह संस्कार गर्भ के दिन से 9वें माह में किया जाता है। इसमें पूर्ववत् यंत्र पूजा व हवन करें। साथ ही नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व दम्पत्ति को आशीर्वाद देवें।

सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहस्थकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, युवाराज्यकल्याणभागी भव।

पुण्याहवाचन, शान्ति पाठ आदि के पश्चात् गृहस्थाचार्य पति, पत्नी को णमोकार मंत्र पढ़कर रक्षा सूत्र बाँधें।

नोट—यदि गर्भाधान संस्कार क्रमशः न कर सकें तो 4-5वें संस्कारों के साथ उन संस्कारों के मंत्र व क्रियाएँ इसी समय कर ली जावें। गर्भिणी महिला को प्रतिदिन ''ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः'' इस मंत्र की जाप कर लेना चाहिए। उसे गर्भ के पाँचवें माह से, अधिक ऊँची जमीन पर चढ़ना नहीं चाहिए। वह वाहन (बैलगाड़ी, अश्व या धक्के वाली गाड़ी) पर न बैठे। तेज औषधि न लेवे, बोझा न ढोवे, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे, सादा भोजन करे। स्वाध्याय में अधिक समय व्यतीत करें। हाथ चक्की से आटा पीसने का अभ्यास रखे। इन संस्कारों को छोड़कर अन्यत्र हवन में शामिल न हो। क्रोधादि कषाय न कर शान्त परिणाम रखे। पति का भी कर्तव्य है कि वह पत्नी को उक्त कार्यों में सहयोग देवे।

5.7 छठा प्रियोद्भव संस्कार—

बालक के जन्म के बाद यह संस्कार किया जाता है। जन्म का 10 दिन का सूतक होने से गृहस्थाचार्य या जिनको सूतक न लगे, वे जिनमंदिर में पूजा-विधान करें। हवन में 'दिव्य नेमिविजयाय स्वाहा' परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हंत्यनेमिविजयाय स्वाहा, घातिजयो भव, श्रीआदि देव्यः जातक्रियाः कुर्वन्तु, मन्दराभिषेकार्हो भवतु।' इन मंत्रों से आहुति देवें। पिता आदि भी पुत्र को देखकर यह आशीर्वाद देवें। इस दिन बाजें बजवावें।

नोट—कन्या उत्पन्न होने पर भी पहले बताये समान यथायोग्य संस्कार करें। उसकी उपेक्षा न करें। क्योंकि कन्या रत्न मानी जाती है।

5.8 सप्तम नामकर्म संस्कार—

जन्म के 12, 16 या 32वें दिन यह संस्कार करें। दस दिन सूतक होने से जिनाभिषेक, पूजा, शास्त्र का स्पर्श नहीं होता। सूतक त्रिलोकसार, मूलाचार आदि प्राचीन ग्रंथों में भी बताया गया है। सूतक वाले के घर में मुनिराज आहार नहीं लेते हैं।

नोट—पुत्र या पुत्री के मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने पर जन्म पत्रिका बनाते समय ज्योतिषी अरिष्ट बताते हैं। जैन विधि से उसकी शान्ति निम्न प्रकार करना चाहिए—

मूल शान्ति—यदि मूल या उसके समान नक्षत्रों में पुत्र-पुत्री हों तो उस नक्षत्र की शांति हेतु निम्नलिखित 101 माला का घर में कोई व्यक्ति या अन्य किसी के द्वारा जप करा लें। यह विधि जन्म से 28वें दिन जब वही नक्षत्र आता है, तब की जाती है। इस दिन चौंसठ ऋद्धि मण्डल विधान पूजा कर लें। इसके तीन-चार दिन पूर्व से जप कर लें।

जप मंत्र—ॐ ह्रीं अर्हं असि आ उ सा मूल नक्षत्रोत्पन्न पुत्र-पुत्री संबंधी सर्वारिष्ट निवारणं कुरु कुरु स्वाहा।

घर का प्रसूति स्थान 45 दिन तक अशुद्ध रहता है। 45वें दिन नवजात शिशु को मंदिर ले जावें। वहाँ जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने शिशु की माता अपने शिशु को नीचे सुला दें और गृहस्थाचार्य या अन्य कोई व्यक्ति नव बार णमोकार मंत्र उसके कानों में सुनावें। बालक को उसी समय अष्ट मूलगुण (पाँच उदम्बर और तीन मकार का स्थूलरूप से त्याग) धारण कराकर जैन बनावें। इस त्याग की जिम्मेदारी बालक के विवेकशील होने तक माता-पिता एवं परिवार की रहती है।

यदि कोई दिगम्बर मुनि-आर्यिका आदि गुरुजन विद्यमान हों तो उनके मुखारविंद से णमोकार मंत्र सुनवाएं एवं अष्टमूलगुण भी गुरु से ग्रहण करावें।

नामकरण—"सहस्रनामभागी भव, विजयनामाष्टसहस्रभागी भव, परमनामाष्टसहस्रभागी भव।' इन मंत्रों से आशीर्वाद दिया जावे। अनेक नाम लिखकर किसी से एक चिट उठवाने से भी नाम का निर्णय हो सकता है।

नाम घोषित करने के समय, ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अमुक बालकस्य नामकरणं करोमि। अयं आयुरारोग्यैश्वर्यवान् भवतु भवतु झ्रौं झ्रौं असि आ उसा स्वाहा।' मंत्र पढ़ा जावे।

5.9 अष्टम बहिर्यान संस्कार—

यह संस्कार लोक में प्रसिद्ध सूर्य-दर्शन (सूरज का मुहूर्त) के समान है। इसमें जैनेतर जनता सूर्य व कूप पूजा आदि करती है। इस क्रिया को जन्म से लगभग 15 से 45 दिन के भीतर कर लेते हैं, जबकि 2, 3 या चौथे माह में किये जाने का शास्त्र में उल्लेख है। इसके आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रांति भागी भव, यौवराज्य-निष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव।' बालक को जिनालय में दर्शन कराते समय 'ॐ नमोऽर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्र प्रतिमा दर्शने अस्य बालकस्य दीर्घायुष्यं आत्मदर्शनं च भूयात्' यह मंत्र पढ़ें।

5.10 नवमां निषद्या संस्कार—

पाँचवें माह में बालक को बैठाने की क्रिया की जाती है। उस समय पूर्वमुख कर सुखासन में बैठावें। नीचे लिखे आशीर्वादसूचक खास मंत्र पढ़ें—

'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासन भागी भव।'

5.11 दशवां अन्नप्राशन संस्कार—

जन्म से 7, 8 या नवमें माह में अन्न आहार बालक को कराना चाहिए। इसके पहले अन्न देने से स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। लीवर आदि के रोग इसी के परिणामस्वरूप होते हैं। इसके खास मंत्र ये हैं—

'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।'

5.12 ग्यारहवाँ पादन्यास अथवा गमन संस्कार—

इस गमन विधि का उल्लेख आदिपुराण में नहीं है। परन्तु त्रिवर्णाचारादि संस्कार ग्रंथों में इस संस्कार की पूर्ण विधि पाई जाती है। अतएव इस विधि का लिखना भी परमावश्यक है।

यह संस्कार नवमें महीने में किया जाता है। जिस दिन गमन करने योग्य नक्षत्र वार और योग हो, उसी दिन यह संस्कार करना चाहिए।

प्रथम ही बालक का पिता पहले के समान श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा होम करे। बालक को वस्त्रालंकारों से विभूषित करें। उस मंडप में किनारे-किनारे चारों ओर एक धुला हुआ वस्त्र इस प्रकार बिछावे कि जिसमें वेदी तथा श्रावकादि सज्जनजनों के बैठने का स्थान बीच में आ जाये अर्थात् वेदी और सज्जनों के बैठने का स्थान के चारों ओर परिक्रमारूप से वह वस्त्र बिछावे। यह वस्त्र पूर्व दिशा की ओर से बिछाना प्रारंभ करें और दक्षिण उत्तर पश्चिम की ओर होता हुआ पूर्व दिशा में ही समाप्त करें।

अनन्तर पिता उस बालक के दोनों हाथ पकड़ अग्निकुण्ड की पूर्व दिशा में उत्तर दिशा की ओर मुख कराकर उस बालक को उस बिछे हुए वस्त्र पर खड़ा करे तथा ''ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते महावीराय चतुस्त्रिंशदतिशय-युक्ताय युक्ताय बालकस्य पादन्यासं शिक्षयामि तस्य सौख्यं भवतु भवतु झ्वीं क्ष्वीं स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर उस बालक का दायां पैर आगे बढ़ावे। फिर इसी प्रकार उस बालक के दोनों हाथ पकड़े हुए उसी वस्त्र पर उसे चलाता जाये। पूर्व दिशा समाप्त होने पर दक्षिण की ओर मुड़ जाये। दक्षिण से पश्चिम उत्तर की ओर होता हुआ फिर पूर्व की ओर आ जाये।

इसी प्रकार तीन प्रदक्षिणा करा देवे। ध्यान रहे कि प्रदक्षिणा देते समय अग्निकुण्ड बालक के दायें हाथ की ओर रहेगा।

प्रदक्षिणा दे चुकने पर बालक से श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करावे तथा अग्नि गुरु और वृद्धजनों को भी नमस्कार करावे।

5.13 बारहवाँ वर्ष वर्धन (व्युष्टि) संस्कार—

यह क्रिया बालक के एक वर्ष का होने पर करें। इस दिन मंदिर में पूजा विधान करावें। बालक को मंदिर भेजें। उसका जन्म दिवस मनावें। बालक को इन मंत्रों से आशीर्वाद देवें।

''उपनयन जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव।'

5.14 तेरहवाँ चौल संस्कार—

यह बालक के पाँच वर्ष पूर्ण होने पर होता है। दो-तीन वर्ष में भी यह क्रिया की जा सकती है। कहीं-कहीं 45 दिन में भी मुण्डन कराने की परंपरा है तथा कुछ परिवारों में 1 वर्ष के अंदर ही बच्चे का मुण्डन करा लेते हैं एवं कहीं-कहीं तीर्थों पर ले जाकर भी मुण्डन कराते हैं, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ पर बच्चों के मुण्डन कराने से उनकी विद्या, बुद्धि का खूब विकास होता है। इसके मुहूर्त सोम, बुध, शुक्रवार, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 13 तिथि, ज्येष्ठा, मृगशिरा, चित्रा, रेवती, हस्त, स्वाति, पुनर्वसु, पुष्य, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी नक्षत्र हैं। खास आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयन मुँडभागी भव, निर्ग्रंथमुँडभागी भव, निष्क्रांतिमुँडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, सुरेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्य केश भागी भव, आर्हन्त्य-केशभागी भव।' केश निकल जाने के बाद चोटी के स्थान पर केशर से स्वस्तिक बनावें। इसी समय कर्णछेदन क्रिया भी करते हैं।

5.15 चौदहवाँ लिपि संख्यान संस्कार—

यह पाँच वर्ष पूर्ण होने पर घर में या पाठशाला में सोम, बुद्ध, शुक्र, शनिवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, चित्रा, अनुराधा नक्षत्र में तथा 2, 3, 5, 6, 10, 11, 12 तिथि के मुहूर्त में करें। जिन मंदिर में या घर पर पूजा के बाद यह क्रिया करें। सर्वप्रथम "ॐ और ॐ नमः सिद्धेभ्यः" बालक से पट्टी पर लिखावें और इनका उच्चारण करावें। आशीर्वाद के विशेष मंत्र निम्न प्रकार हैं—

"शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थसंबंधपारगामी भव।' बालक को लिपि पुस्तक दी जावे।

नोट—वर्तमान में 2-3 वर्ष के बालक पर भी यह संस्कार कराये जाते हैं क्योंकि बच्चों को अब 2-3 वर्ष की उम्र में स्कूल भेजे जाने की परम्परा हो गई है।

5.16 पन्द्रहवाँ उपनयन संस्कार—

आठ वर्ष की उम्र के बालकों में यह यज्ञोपवीत संस्कार रवि, सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तरात्रय, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, मूल, रेवती, मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा, आर्द्रा, पूर्वात्रय इन वार व नक्षत्रों में करें। रक्षाबंधन के दिन भी सामूहिक रूप में यह क्रिया की जाती है। इसके आशीर्वाद मंत्र इस प्रकार हैं—

'परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव, परमार्हन्त्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव।'

यज्ञोपवीत पहनने का मंत्र—ॐ नमः परमशांताय शान्तिकराय पवित्रीकृतार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।

यज्ञोपवीत का उद्देश्य—अष्टमूलगुण (स्थूल रूप से पाँच पाप का त्याग और मद्य, मांस, मधु का त्याग) अभ्यासरूप में विद्याभ्यास के काल में ग्रहण कर उनके चिन्हरूप में यज्ञोपवीत धारण करना है।

5.17 सोलहवाँ व्रतावतरण संस्कार—

पहले गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में विद्यार्थी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याभ्यास करते थे। विवाह के पूर्व अध्ययन पूर्ण होने तक सादा भोजन और सादगीपूर्ण रहन-सहन व्रत चर्या का उद्देश्य है।

अध्ययन पूर्ण होने पर विद्यार्थी अभ्यासरूप में लिये गये पूर्ण नियम और उनका चिन्ह उतारकर गुरु व माता-पिता

की आज्ञा से विवाह के लिए तैयार होता है। उक्त व्रतों में अष्टमूलगुण सदा पालता है क्योंकि यह जैन का चिन्ह है।

5.8 जैन विवाह विधि-

विवाह और उसका उद्देश्य—शास्त्र की विधि के अनुसार योग्य उम्र के वर और कन्या का अपनी-अपनी जाति में क्रमशः वाग्दान (सगाई) प्रदान, वरण, पाणिग्रहण होकर अन्त में सप्तपदीपूर्वक विवाह होता है। यह विवाह धर्म की परम्परा को चलाने के लिए, सदाचरण और पुत्र-पुत्री द्वारा कुल की उन्नति के लिए और मन एवं इन्द्रियों के असंयम को रोककर मर्यादापूर्वक ऐन्द्रियिक सुख की इच्छा से किया जाता है क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन अल्प शक्ति रखने वाले स्त्री-पुरुषों से नहीं हो सकता इसलिए आचार्यों ने ब्रह्मचर्याणुव्रत में पर-स्त्री त्याग और स्व-स्त्री संतोष का उपदेश दिया है। यह विवाह देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी से समाज के समक्ष होता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है।

गठजोड़ा—हवन और सप्तपदी पूजा के बाद जीवनपर्यन्त पति-पत्नी बनने वाले दम्पत्ति में परस्पर प्रेमभाव एवं लौकिक और धार्मिक कार्यों में साथ रहने का सूचक ग्रंथिबंधन (गठजोड़ा) किसी सौभाग्यवती (सुहागिनी) स्त्री के द्वारा कराना चाहिए। कन्या की लुगड़ी (साड़ी) के पल्ले में 1चवन्नी, 1 सुपारी, हल्दी गाँठ, सरसों व पुष्प रखकर उसे बाँध लें और उससे वर के दुपट्टे के पल्ले को बाँध दें।

ग्रंथिबंधन मंत्र—

अस्मिन् जन्मन्येष बन्धो र्द्वयोर्वै, कामे धर्मे वा गृहस्थत्वभाजि।
योगो जातः पंचदेवाग्नि साक्षी, जायापत्त्योरंचलग्रंथिबंधात्।।

पाणिग्रहण—गठजोड़ा के पश्चात् कन्या के पिता कन्या के बाएँ हाथ में और वर के सीधे हाथ में पिसी हुई हल्दी को जल से रकाबी में घोलकर लेपें। लोक में जो पीले हाथ करने की बात कही जाती है यह वही बात है। फिर वर के सीधे हाथ में थोड़ी-सी गली मेंहदी और 1 चवन्नी रखकर उस पर कन्या का बायाँ हाथ रखकर कन्या का हाथ ऊपर व वर का हाथ नीचे करके वर-कन्या के दोनों हाथ जोड़ दें। इस विधि से कन्या का पिता अपनी कन्या को वर के हाथ में सौंपता है। इसे पाणिग्रहण कहते हैं।

5.18.1 पाणिग्रहण मंत्र—

हारिद्रपंकमवलिप्य सुवासिनीभिर्दत्तं द्वयोर्जनकयोः खलु तौ गृहीत्वा।
वामं करं निजसुताभवमग्रपाणिम्, लिम्पेद्वरस्य च करद्वयोजनार्थ।।

गृहस्थाचार्य प्रत्येक फेरे के बाद नीचे लिखे हुए अर्घ्य क्रमशः चढ़ाते रहें—

1. ॐ ह्रीं सज्जाति परमस्थानाय अर्घ्यम्।
2. ॐ ह्रीं सद्गृहस्थ परमस्थानाय अर्घ्यम्।
3. ॐ ह्रीं पारिव्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।
4. ॐ ह्रीं सुरेन्द्र परमस्थानाय अर्घ्यम्।
5. ॐ ह्रीं साम्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।
6. ॐ ह्रीं आर्हन्त्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।

5.18.2 फेरे और सप्तपदी—

हथलेवा के बाद वर-कन्या को खड़ा करा के कन्या को आगे और वर को पीछे रखकर वेदी में चवरी के मध्य में यंत्र सहित कटनी और हवन की प्रज्ज्वलित अग्नियुक्त स्थंडिल के चारों ओर छः फेरे दिलवावें। बुन्देलखण्ड के परवार आदि जातियों में वर-वधू का हाथ छुड़वाकर छह फेरे दिलाये जाते हैं। इस समय स्त्रियाँ फेरों के मंगल गीत गावें। वर और कन्या के कपड़ों को संभालते हुए फेरे दिलाना चाहिए। एक-दो समझदार स्त्री और पुरुष दोनों को संभालते रहें। छः

फेरों के बाद दोनों अपने पूर्व स्थान पर पहले के समान बैठ जावें। गृहस्थाचार्य निम्न प्रकार सात-सात वचनों (प्रतिज्ञाओं) को क्रम से पहले वर से और फिर कन्या से कहलावें, साथ ही स्वयं उनको सरल भाषा में समझाते जायें।

वर की ओर से कन्या को दिलाये जाने वाले 7 वचन—

1. मेरे कुटुम्बी लोगों का यथायोग्य विनय सत्कार करना होगा।

2. मेरी आज्ञा का लोप नहीं करना होगा ताकि घर में अनुशासन बना रहे।

3. कठोर वचन नहीं बोलना होगा क्योंकि इससे चित्त को क्षोभ होकर पारस्परिक द्वेष की संभावना रहती है।

4. सत्पात्रों के घर आने पर उन्हें आहार आदि प्रदान करने में कलुषित मन नहीं करना होगा।

5. मनुष्यों की भीड़ आदि में जहाँ धक्का आदि लगने की संभावना हो, वहाँ बिना खास कारण के अकेले नहीं जाना होगा।

6. दुराचारी और नशा करने वाले लोगों के घर पर नहीं जाना होगा, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों द्वारा अपने सम्मान में बाधा आने की संभावना है।

7. रात्रि के समय बिना पूछे दूसरों के घर नहीं जाना होगा ताकि लोगों को व्यर्थ ही टीका-टिप्पणी करने का मौका न मिले।

ये सात प्रतिज्ञायें तुम्हें स्वीकार करना चाहिए। इन वचनों में गार्हस्थ्य जीवन को सुखद बनाने की बातों का ही उल्लेख है। इनके पालन से घर में और समाज में पत्नी का स्थान आदरणीय बनेगा।

इन प्रतिज्ञाओं को कन्या अपने मुँह से नि:संकोच होकर कहे और स्वीकार करे।

कन्या की ओर से वर को दिलाये जाने वाले 7 वचन—

1. मेरे सिवाय अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान मानना होगा अर्थात् पर-स्त्री सेवन का त्याग और स्व-स्त्री सन्तोष रखना होगा।

2. वेश्या, जो परस्त्री से भिन्न मानी जाती है, उसके सेवन का त्याग करना होगा।

3. लोक द्वारा निन्दनीय और कानून से निषिद्ध द्यूत (जुआ) नहीं खेलना होगा।

4. न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करते हुए वस्त्र आदि से मेरा रक्षण करना होगा।

5. आपने जो अपने वचनों में मुझसे अपनी आज्ञा मानने की प्रतिज्ञा कराई है उस संबंध में, धर्म स्थान में जाने और धर्माचरण करने में रुकावट नहीं डालनी होगी।

6. मेरे संबंध की ओर से घर की कोई बात मुझसे नहीं छिपानी होगी, क्योंकि मैं भी आपकी सच्ची सलाह देने वाली हूँ। कदाचित् उससे आपको लाभ हो जाये और अपना संकट दूर हो जाये। साथ ही इससे परस्पर विश्वास भी बढ़ेगा।

7. अपने घर की गुप्त बात दूसरे के याने मित्र आदि के समक्ष प्रकट नहीं करनी होगी। लोगों की मनोवृत्ति प्राय: यह होती है कि वे दूसरे घर की छोटी-सी बात 'तिल का ताड़' की उक्ति के समान बड़ी करके अफवाह फैला देते हैं।

नोट - उक्त वर-वधू की 7-7 प्रतिज्ञाओं को ही आधुनिक भाषा में परिस्थिति को देखकर सम्मिलित रूप से निम्न प्रकार दोनों के लिए सात प्रतिज्ञाएँ प्रचार में आने योग्य हैं।

5.18.3 वर-वधू के लिए महत्वपूर्ण 7 प्रतिज्ञाएँ—

1. जीवनपर्यन्त साथ रहते हुए सहनशील और कर्मवीर बनकर एक-दूसरे के लिए जीवित रहना-जीवन से निराश न होना।

2. दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने और गृहस्थजीवन के निर्माण में भीतर का उत्तरदायित्व नारी को और बाह्य जीवन का उत्तरदायित्व पुरुष पर है।

3. एक-दूसरे के परिवार के सदस्य बनकर सबके स्नेह और आदर के पात्र बनना। विनय, सेवा करना एवं सद्व्यवहार से घर और ससुराल को स्वर्ग बनाना।

4. परस्पर स्नेह, अभिन्नता, आकर्षण, विश्वास बना रहे, इसके उपाय आचरण में लाना। पति के लिए पत्नी सर्वाधिक सुन्दर व प्रिय और पत्नी के लिए पति परमाराध्य रहे।

5. वधू को कुल वधु (सीता, अंजना, सुलोचना आदि के समान) और वर को कुलपुत्र (राम, जयकुमार, सुदर्शन आदि के समान) बनना जिनसे घर का सम्मान, गौरव, प्रतिष्ठा, कीर्ति बनी रहे वैसे काम करना। निर्व्यसनी, शीलवान और विवेकी बनना।

6. जिनेन्द्र देव, गुरु, शास्त्र की अर्चना एवं साक्षीपूर्वक विवाह सम्पन्न हो रहा है उनमें श्रद्धा बनाये रखें, इससे बुराइयों से बचने में बल मिलता रहे। आत्महित (वीतरागता) की ओर दृष्टि रखें।

7. समाज, जनता और राष्ट्र की सेवा में दोनों परस्पर सहयोग से आगे बढ़ें। विलासिता से बचें।

इन सात प्रतिज्ञाओं को दोनों स्वीकार करें।इनके सिवा और भी कोई खास बात हो तो विवाह के पहले स्पष्ट कर लेना चाहिए। जिससे दाम्पत्य जीवन आजीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो। सच यह है कि अपने साफ और शुद्ध परिणाम से ही संबंध अच्छा रह सकता है।

सप्तपदी के पश्चात् वर को आगे करके सातवाँ फेरा कराया जाये और अपने पहले के स्थान पर जब आवें तब वे पति-पत्नी के रूप में होकर यानि स्त्री-पति के बाँयें ओर पति-स्त्री के दाहिने ओर बैठे। इस अवसर पर स्त्रियाँ मंगलगीत गावें।

उक्त सात फेरे या भाँवर सात परम स्थानों की प्राप्ति के द्योतक हैं। आगमानुसार संसार में (1) सज्जातित्व (2) सद्गृहस्थत्व (3) साधुत्व (4) इन्द्रत्व (5) चक्रवर्तित्व (6) आर्हंत्य और (7) निर्वाण ये सात परम स्थान माने गये हैं।

सातवें फेरे में यह मंत्र बोलें और अर्घ्य चढ़ावें।

'ॐ ह्रीं निर्वाण परमस्थानाय अर्घ्यं'

सात फेरे होने पर गृहस्थाचार्य नवदम्पत्ति पर निम्न प्रकार मंत्र द्वारा पुष्प क्षेपण करें–

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवः शान्तिं पुष्टिं च कुरुत कुरुत स्वाहा।

यहाँ पर संक्षेप में गृहस्थ जीवन के महत्व पर उपदेश देकर अच्छी संस्थाओं को यथाशक्ति दोनों पक्ष की ओर से दान की घोषणा कराकर यथास्थान भिजवाने का प्रबंध करा देना चाहिए।

इसके बाद कन्या पक्ष की ओर से वर को तिलकपूर्वक कुछ राशि और श्रीफल भेंटकर गठबंधन छुड़ा देना चाहिए।

5.18.4 विशेष ज्ञातव्य—

1. विवाह के दिन कन्या के रजस्वला हो जाने पर कन्या से पाँचवें दिन पूजन-हवन आदि विवाह की विधि कराना चाहिए। विवाह दिन में किया जाना चाहिए।

2. नवदेवता पूजन में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनालय ये 9 देवता हैं।

3. गुरु पूजा में ऋद्धियों की स्थापना के लिए "ॐ बुद्धिचारण विक्रियौषध-तपोबलरसाक्षीणमहानसचतुःषष्ठि ऋद्धिभ्यो नमः" यह मंत्र कागज पर केसर से लिखकर नीचे की कटनी पर रख देना चाहिए।

4. विवाह के मुहूर्त निकालने आदि में और अन्य ग्रहादिदोष को दूर करने के लिए जो पीली (गुरु ग्रह संबंधी) पूजा, लाल (रवि ग्रह संबंधी) पूजा आदि शांति के उपाय अन्य ज्योतिषी बताते हैं उनके उपाय जैनशास्त्रानुसार ही करना चाहिए। नवग्रह विधान के अनुसार विवाह के समय जिनेन्द्र पूजा करा देना चाहिए और विशेष करना हो तो नवग्रह मण्डल मंडवाकर "ॐ ह्रीं अर्हंम् अ सि आ उ सा सर्वविघ्न शांतिं कुरु कुरु स्वाहा" इस मंत्र की ग्रह के हिसाब से

यथाशक्ति जाप व विवाह के समय आहुति करा देना चाहिए।

5.18.5 नव दम्पत्ति के प्रति —

आप दोनों गार्हस्थ जीवन में प्रविष्ट हुए हैं। अपने मानव जीवन को पवित्र और सफल बनाने के लिए ही यह क्षेत्र आपने चुना है। इसको आनन्दपूर्ण और सुखमय बनाना आपके ही ऊपर निर्भर है। यह केवल इन्द्रिय भोग भोगने के लिए नहीं, वरन् संयमपूर्वक सदाचार और शील की साधना के उद्देश्य से आपने अंगीकार किया है। आप दोनों एक-दूसरे के प्रति तो जवाबदार हैं ही, पर स्व-धर्म, स्व-समाज की और स्व-देश की सेवा का दायित्व भी आप पर आ पड़ा है। यह गृहस्थ का भार बहुत बड़ा और अनेक संकटों से युक्त है। गृहस्थ अवस्था में आने वाली अनेक आपत्तियों से घबराकर गृह-विरत हो जाने के बहुत उदाहरण मिलेंगे परन्तु हमें आशा है कि आप जीवन की हरेक परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे। समस्त कठिनाइयों को सहन करते हुए उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर दृढ़ रहना आपका कर्तव्य होगा।

पुराणों में उल्लिखित जयकुमार-सुलोचना, राम-सीता या अन्य किसी के दाम्पत्य जीवन के आदर्श को आप अपने सामने रखें। हमारी यह शुभकामना है कि उन्हीं के समान भावी पीढ़ी आपका भी उदाहरण अपने समक्ष रखें।

आप दोनों यौवन के वेग में न बहकर अपने कुल के सम्मान का ख्याल रखते हुए गौरवमय यशस्वी जीवन व्यतीत करें। आपका व्यवहार न्याय एवं नैतिकतापूर्ण हो।

पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को सहयोगिनी मानकर उसे ऊँचा उठाने के साधन सदा जुटाता रहे और पत्नी-पति के हर कार्य को सफल बनाने में पूरा सहयोग देती रहे। दोनों भौतिकता में न लुभाकर आध्यात्मिकता के रहस्य को भी समझें, इसी में उन्हें यथार्थ सुख और शांति प्राप्ति होगी। इसके लिए प्रतिदिन देवदर्शन, गुरुदर्शन, पूजन, सामायिक और स्वाध्याय भी आवश्यक है। हमारी हार्दिक मंगल-कामना है कि आपकी यह जोड़ी दीर्घकाल तक बनी रहे।

5.18.6 विवाह के पश्चात् —

जो स्त्री-पुरुष विवाह करते हैं, उन्हें गार्हस्थ जीवन के महत्व को समझकर संयम के साथ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को परस्पर अविरोध रूप से सेवन करना चाहिए। अपनी आजीविका के साधन जुटाते हुए न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। अर्थ के बिना लोक यात्रा नहीं चल सकती परन्तु अर्थ के पीछे पड़कर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। जीवन में सदाचार और प्रामाणिकता का बड़ा महत्व है। चाहे युवा, प्रौढ़ या वृद्ध अवस्था कोई भी हो, उसमें इस लोक की सफलता का और परलोक का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जीवन के साथ मरण तो अवश्यंभावी है। मरण अच्छा उसी का होता है जिसका जीवन अच्छा रहा हो। मृत्यु मालूम नहीं कब आ जावे, इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए। जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हुए निराकुलता का भी अनुभव किया जावे, जिससे पापों से बचकर शुभोपयोग का वातावरण उपलब्ध हो सके। विदेश में लोग विवाह करना अच्छा नहीं समझते, बिना विवाह किये वर्षों तक वे अनेक अविवाहित महिलाओं के साथ मित्रता के रूप में रहते हैं। बिना विवाह किये पुरुष और महिला के साथ में रहने से वहाँ ब्रह्मचर्य का व्यवहार नहीं है। संयुक्त परिवार की प्रथा वहाँ नहीं होने से वृद्धावस्था में कोई सहारा नहीं रहता। विवाह करके भी वहाँ तलाक होता रहता है। इसलिए भारत के आदर्श का विचार कर यदि ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रह सकते तो विवाह करके एक पत्नी व्रत पालने में ही सुख और शांति मिलेगी। अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा में कृतज्ञता प्रगट करने का भी कम महत्व नहीं है क्योंकि भविष्य में हमें भी वृद्ध और रोगी बनकर अपने पुत्रों से अपेक्षा रखना है।

व्यक्तिगत जीवन जीने के बजाय समाज और जनता के संपर्क में भी आना चाहिए। अपनी शक्ति अनुसार समाज सेवा और जनता की सेवा करते रहकर यशस्वी बनना चाहिए, ताकि लोग सदैव याद करते रहें।

5.19 सूतक-पातक वर्णन-

बालक का जन्म होने पर जो घरवालों को और कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि का कार्य वर्जित किया जाता है, उसी का नाम सूतक है एवं किसी के मरण के बाद जो अशौच होता है, उसे पातक संज्ञा है। यह सूतक-पातक आर्षग्रंथों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को सूतक शब्द से जाना जाता है।

जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए 10 दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को 6 दिन का, छठी पीढ़ी वालों को 4 दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को 3 दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है, ऐसे ही मरण का सूतक भी चार पीढ़ी वालों तक के लिए 10 दिन का (कहीं-कहीं 12 दिन का सूतक मानने की परम्परा है) पाँचवी पीढ़ी के लिए 6 दिन का आदि है।

जन्म का सूतक चल रहा है, इसी बीच परिवार में मरण का सूतक आ जाने पर वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के सूतक में जन्म का सूतक आ जाने पर उसी पहले वाले मरण के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही जन्म का सूतक यदि 5-6 दिन का हो चुका है पुनः परिवार में किसी का जन्म हो जाये, तो वह सूतक पहले के साथ ही निकल जाता है। यदि पहले सूतक के अंतिम दिन पुनः किसी का जन्म आदि होवे, तो दो दिन सूतक और मानना चाहिए। यदि दूसरे दिन होवे तो तीन दिन का और मानना चाहिए। मरण सूतक के बीच में यदि किसी का मरण हो जावे तो वह पहले सूतक के साथ समाप्त नहीं होगा।यदि किसी ने आत्महत्या पूर्वक मरण कर लिया है तो उसके परिवारजनों को 6 माह का सूतक माना गया है, कदाचित् किन्हीं विशेष जानकार आचार्य या गणिनी माताजी के पास जाकर उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तादि ग्रहण करने पर 6 महीने के मध्य में भी शुद्धि मानी गई है।

साधु-साध्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और साधुओं का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

मंत्री, सेनापति, राजा, दास और दुर्भिक्ष आदि आपत्ति से पीड़ित लोग इनके मरने पर भी सूतक नहीं लगता है। युद्ध में मरने पर भी सूतक नहीं लगता है।

गर्भवती का तीन महीने के अंदर ही यदि गर्भस्राव हो जावे तो उसे ही तीन दिन का अशौच है। तीन महीने से लेकर छह महीने तक का यदि गर्भपात हो जाता है तो जितने महीने का हो, उतने दिन का अशौच है। छह महीने के बाद और आठ महीने तक में यदि गर्भपात होकर नष्ट हो जाता है तो माता को पूरे 10 दिन का अशौच है, पिता को स्नानमात्र से शुद्धि है।

नाभि छेदन से पहले यदि बालक मर जाये तो माता को पूर्ण 10 दिन का अशौच है, पिता व बंधुओं को तीन दिन का है। 10 दिन के पहले यदि मर जावे तो पिता व सबको 10 दिन का है। दस दिन पूर्ण होने पर अंतिम दिन यदि बालक मर जाये तो दो दिन का अशौच और पालना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः मरण होने पर तीन दिन अशौच और पालना चाहिए। 10 दिन बाद मरण होने पर माता-पिता व सहोदरों को दस दिन का अशौच है। इतर बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। दांत आने के बाद मरण होने पर पिता, भ्राता को दस दिन का तथा शेष जनों को स्नानमात्र से शुद्धि है। चौल कर्म के बाद बालक के मरने पर पिता-भ्राता को 10 दिन का, चार पीढ़ी वालों तक 5 दिन का, आगे की पीढ़ी वालों को एक दिन का है। उपनयन के बाद मरण होने पर चार पीढ़ी वालों तक 10 दिन का अशौच है।

पुत्री का मरण यदि चौलकर्म से पहले हो जावे तो बंधुओं को स्नानमात्र से शुद्धि है। व्रतसंस्कार से पहले मरण होने पर एक दिन का अशौच है।

दूर देश के अपने परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का समाचार मिलने पर अवशिष्ट दिन का सूतक पालना चाहिए। जन्मादि होकर 10 दिन बाद समाचार मिलने पर तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र करना चाहिए। इस प्रकार यह संक्षिप्त सूतक-पातक विधि कही गई है।

5.20 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-मनुष्य जीवन में गर्भ से लेकर 8 वर्ष तक की अवस्था में किये जाने वाले षोडश संस्कान कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2-माता के गर्भ में बालक के रहने पर कितने व कौन से संस्कार किये जाते हैं ?

प्रश्न 3-बालक का उपनयन संस्कार कितनी उम्र में व किस उद्देश्य से किया जाता है ?

प्रश्न 4-जैन विवाह विधि के अनुसार वर-वधू के पाणिग्रहण के लिए किन मंत्रों का उच्चारण किया जाता है।

प्रश्न 5-जैन विवाह विधि में 7 फेरे किस कारण से लिये जाते हैं उनका स्पष्टीकरण करें।

प्रश्न 6-जन्म मरण का सूतक-पातक कितनी पीढ़ी तक कितने दिन का लगता है ? स्पष्ट करें।

प्रश्न 7-जन्म-मरण का सूतक किन्हें नहीं लगता है ?

इकाई–2 श्रावक के बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) पंच अणुव्रत

(2) तीन गुणव्रत

(3) चार शिक्षाव्रत

(4) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

पाठ-1–पंच अणुव्रत

1.1 हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से निवृत्त होने हेतु जो संकल्प (नियम) लिया जाता है, वह व्रत है। यह दो प्रकार का होता है (1) श्रावकों के लिए अणुव्रत (या एकदेश व्रत) और साधुओं के लिए महाव्रत (या सर्वदेश व्रत)। जो व्रतों से युक्त है, वह व्रती कहलाता है।

ये व्रती दो प्रकार के होते हैं–

1. अगारी–'अगार' मकान/घर को कहते हैं। जो श्रावक घर–गृहस्थ के ममत्व सहित है, वह अगारी कहलाता है। इन्हें सागार भी कहते हैं।

2. अनगार–महाव्रतधारी, घर–गृहस्थी के ममत्व से रहित निस्पृही साधु अनगार कहलाता है।

गृहस्थों का चारित्र 12 भेद रूप कहा गया है। ये 12 भेद हैं–5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत।

इन बारह व्रतों का पृथक्–पृथक् लक्षण एवं उनके अतिचारों का वर्णन रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ के अनुसार दिया जा रहा है–

अणुव्रत का लक्षण

प्राणातिपातवितथ - व्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति।।52।।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत है। जो अणुव्रतों को धारण करते हैं वे नियम से देवगति में ही जन्म लेते हैं। नरक तिर्यंच और मनुष्य गति में जन्म नहीं ले सकते हैं।

अहिंसा अणुव्रत

सङ्कल्पात्कृतकारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलबधाद्विरमणं निपुणाः।।53।।

मन वचन काय को कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद होते हैं। जो इन नव कोटि से संकल्प पूर्वक त्रसजीवों की हिंसा नहीं करते हैं। वे स्थूल रूप से त्रसहिंसा से विरत होने से अहिंसा अणुव्रती कहलाते हैं। गणधर देव इसे ही श्रावक का पहला व्रत कहते हैं।

अहिंसा अणुव्रत के अतिचार

छेदनबन्धनपीडन - मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च।।54।।

पशु आदि के नाक कान आदि अंगों का छेदन करना, मजबूत साँकल आदि से बांधना, बेंत आदि से पीटना, उन पर शक्ति से अधिक भार लादना और उन्हें समय पर भोजन पानी न देना। अहिंसा अणुव्रत के ये पांच अतिचार कहे जाते हैं।

सत्याणुव्रत

स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सम्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावाद-वैरमणम्।।55।।

स्थूल झूठ न स्वयं बोलना, न दूसरों से बुलवाना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जो दूसरों को विपत्ति देने वाला हो जावे, उसे गणधर देव सत्य अणुव्रत कहते हैं। जो मनुष्य सत्यव्रती होते हैं वे सभी के विश्वास पात्र रहते हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

परिवाद-रहोभ्याख्या-पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य।।56।।

झूठा उपदेश देना, अन्यों की एकांत की गुप्त क्रियाओं को प्रगट करना, पर की चुगली निन्दा करना, झूठे लेख दस्तावेज आदि लिखना और यदि कोई धरोहर की संख्या को भूल जावे तो उसे उतनी ही कहकर बाकी हड़प लेना, सत्याणुव्रत के ये पांच अतिचार होते हैं। सत्यव्रती इन्हें छोड़ देते हैं।

अचौर्याणुव्रत

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौय्यादुपरिमणम्।।57।।

पर की वस्तु रखी हुई, गिरी हुई या भूली हुई हो ऐसी पर वस्तु को बिना दिए न स्वयं लेना न दूसरों को देना अचौर्य अणुव्रत कहलाता है। इस व्रत के धारी सर्वजन के विश्वासी होते हैं। और पर धन त्याग व्रत के प्रभाव से वे नवनिधियों के भी स्वामी हो जाते हैं।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

चौरप्रयोगचौरार्था - दानविलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः।।58।।

चोरी करने का उपाय बतलाना, चोरी का धन ग्रहण करना, राजा की आज्ञा का उल्लघंन करना, किसी वस्तु में उसकी सदृश अन्य वस्तु की मिलावट कर देना और तोलने के बांट हीन–अधिक रखना ये अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार हैं, जो कि इस व्रत को मलिन करने वाले हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीते-र्यत्।
सा परदार-निवृत्तिः, स्वदारसन्तोषनामापि।।59।।

जो पाप के डर से हर स्त्री के साथ काम भोग न स्वयं करते हैं न ऐसा दुष्चरित्र अन्य से ही करवाते हैं। अपनी स्त्री में ही संतोष रखते हैं वे कुशील त्यागी मनुष्य शील धुरधंर व्रती ब्रह्मचर्य अणुव्रत के धारी होते हैं। ऐसे ही महिलायें भी पर पुरुष के त्याग रूप व्रत का पालन करके अपने दोनों कुलों का यश फैलाने वाली होती है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

अन्यविवाहाकरणा - नङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं, चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः।।60।।

पर का विवाह करवाना, अनंग क्रीड़ा, काम सेवन से अतिरिक्त अंगों से कुचेष्टा करना, अश्लील वचन बोलना,

मैथुन सेवन की अति इच्छा रखना और व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहां आना जाना, ये पांच ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार हैं। इनको त्याग करके इस पवित्र व्रत की रक्षा करनी चाहिए।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत

धनधान्यादिग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्या-दिच्छापरिमाणनामापि।।61।।

खेत, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य, कपास वगैरह और भांड बर्तन आदि इन दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करके फिर उससे अधिक नहीं चाहना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इस व्रत के धारी घर में रहकर ही संतोषी होते हैं अतः वे ही सुखी हैं।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार

अतिवाहना-तिसङ्ग्रह-विस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते।।62।।

वाहन आदि परिग्रह अधिक रखना, वस्तुओं का अति संग्रह करना, पर के वैभव को देखकर आश्चर्य करना, धन का लोभ अधिक रखना और पशुओं पर शक्ति से अधिक भार लादना, परिग्रह परिमाण अणुव्रत के ये पांच अतिचार हैं इनको त्यागने से ही निर्दोष व्रती होते हैं।

1.2 पंचाणु व्रत का फल-

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।।63।।

निधिस्वरूप ये पांच अणुव्रत यदि निरतिचार पाले जाते हैं तो ये नरक पशु और मनुष्य गति से रहित देवपद को प्राप्त कराते हैं। फिर वहां वे देव दिव्य वैक्रियिक शरीर अणिमा महिमा आदि आठ ऋद्धियां और अवधिज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं तथा कई सागर तक दिव्यसुखों का उपभोग करते हैं।

पंचाणुव्रत में प्रसिद्ध नाम

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्।।64।।

अहिंसा अणुव्रत पालन कर यमपाल चांडाल देवों द्वारा मान्यता को प्राप्त हुआ है। सत्य अणुव्रत में धनदेव ने, अचौर्य अणुव्रत में वारिषेण ने नाम पाया है। नीलीसती ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालन कर देवों द्वारा अतिशय प्राप्त किया है और जयकुमार ने परिग्रह का परिमाण करके जगत में अपना नाम धन्य किया है।

1.3 पांच पाप में प्रसिद्ध नाम-

धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रु-नवनीतो यथाक्रमम्।।65।।

हिंसा पाप में धनश्री, झूठ में सत्यघोष पुरोहित बदनाम हुये हैं। चोरी पाप में अपसर नामा तापसी ने अपने तप को कलंकित किया है, यमदण्ड नामक कोतवाल ने पर स्त्री सेवन के पाप से अपयश पाया है और श्मश्रुनवनीत इस उपनाम को धारण करने वाला लुब्धदत्त सेठ परिग्रह के पाप से दुर्गति में गया है।

श्रावक के आठ मूलगुण

मद्यमांसमधुत्यागैः, सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहु-र्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।66।।

मदिरा मांस और शहद का त्याग करके पांच अणुव्रतों का पालन करना ये आठ मूलगुण हैं जो कि गृहस्थों के लिए कहे गए हैं। जिस प्रकार मूल जड़ के बिना वृक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार इन मूलगुणों के बिना कोई भी मनुष्य श्रावक नहीं हो सकता है, ऐसा समझना।

1.4 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-व्रत किसे कहते हैं ? यह कितने प्रकार का होता है ? नाम बताओ ?

प्रश्न 2-श्रावक के 12 व्रत कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-अणुव्रत का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 4-अणुव्रत कितने होते हैं ? उनके नाम बताओ।

प्रश्न 5-पाँच अणुव्रत में प्रसिद्ध व्यक्ति कौन-कौन हैं ?

पाठ-2—तीन गुणव्रत

2.1 गुणव्रतों के नाम-

दिग्व्रतमनर्थदण्ड, व्रतं च भोगोपभोग-परिमाणं।
अनुवृंहणाद् गुणाना-माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः।।67।।

जो मूलगुणों की वृद्धि करते हैं और दृढ़ करते हैं श्री गणधरदेव उन्हें गुणव्रत कहते हैं। उसके दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत भेद हैं। इन तीनों का जो पालन करते हैं वे जगत में अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं।

विशेष—पं. श्री दौलत राम कृत छहढाला में दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डविरतिव्रत रूप तीन गुणव्रत माने गये हैं। उन्होंने भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत में लिया है।

यहाँ आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार वर्णन दिया जा रहा है—

2.2 दिग्व्रत का लक्षण-

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत-मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै।।68।।

दशों दिशाओं की सीमा करके जीवन भर उसके बाहर नहीं जाना। मैं जीवन भर इस मर्यादा के बाहर नहीं जाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर लेना दिग्व्रत है। वह दिग्व्रती मर्यादा के बाहर में सूक्ष्म पाप से भी बच जाता है। अतः घर में रहते हुए भी शान्ति लाभ करता है।

मर्यादा की विधि

मकराकरसरिदटवी-गिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि।।69।।

समुद्र नदी वन पर्वत शहर या ग्राम आदि स्थानों द्वारा, भोजन या कोश प्रमाण से मर्यादा कर लेना। चार दिशा, चार विदिशा, ऊपर और नीचे सुरंग आदि में कुछ सीमा निर्धारित कर लेना यह दिग्व्रत है।

2.3 दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर अणुव्रतों के महाव्रतपना-

अवधे-र्बहिरणुपाप-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयतां।
पञ्च महाव्रतपरिणाति-मणुव्रतानि प्रपद्यान्ते।।70।।

दिग्व्रती श्रावक के इस मर्यादा के बाहर अणुमात्र भी पाप नहीं होता है। इसलिये उसके पांचों अणुव्रत सीमा के बाहर में पांच महाव्रतरूप से परिणत हो जाते हैं।

दिग्व्रती के मर्यादा के बाहर उपचार से महाव्रत होने का कारण

प्रत्याख्यानतनुत्वात्, मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते।।71।।

प्रत्याख्यानावरण कषाय के मंद हो जाने से चारित्रमोह के परिणाम भी मंदमंद हो जाते हैं। यद्यपि उस दिग्व्रती की ये कषायें विद्यमान हैं इनका अस्तित्व मौजूद है फिर भी मर्यादा के बाहर पाप का लेश न होने से वह अणुव्रत महाव्रत सदृश हो जाते हैं। यह कथन उपचार से माना गया है।

महाव्रत का लक्षण

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवचः कायैः।
कृतकारितानुमोदै-स्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्।।72।।

हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह इन पांचों पापों का मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना रूप नवकोटि से सम्पूर्णतया त्याग कर देना महाव्रत है इन्हें महापुरुष ही धारण करते हैं।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्-व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरते-रत्याशाः पञ्च मन्यन्ते।।73।।

ऊर्ध्वभाग की मर्यादा का उलंघन कर देना, अधोभाग की मर्यादा उलंघन करना, तिर्यकभाग की मर्यादा का उलंघन करना, क्षेत्रों की सीमा बढ़ा लेना, और की हुई मर्यादा को भूल जाना, ये पांच अतिचार दिग्व्रत के माने गये हैं।

2.4 अनर्थदण्डविरतिव्रत का स्वरूप एवं अनर्थदण्ड के भेद-

अभ्यन्तरं दिग्वधे-रपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं, विदु-र्व्रतधराग्रण्यः।।74।।

दशों दिशाओं में जो मर्यादा की है उसके भीतर–भीतर में बिना प्रयोजन ही मन वचन काय से जो पाप होते रहते हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं। उनका जो रुचि से त्याग करते हैं गणधरदेव उसे अनर्थदण्डविरतिव्रत कहते हैं।

अनर्थदण्ड के भेद

पापोपदेशहिंसा - दानापध्यान - दुःश्रुतीः पञ्चः।
प्राहुः प्रमादचर्या - मनर्थदण्डानदण्डधराः।।75।।

पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पांच अनर्थ दण्ड हैं। इनसे सदा पाप का ही आस्रव होता रहता है। तीनों योगों को वश में करने वाले श्री गणधर आदि साधुओं ने ऐसा कहा है।

पापोपदेश का लक्षण

तिर्यक्क्लेशवणिज्या - हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
प्रसवः कथाप्रसङ्गः स्मर्तव्यः, पाप उपदेशः।।76।।

तिर्यक्वणिज्या–तिर्यचों के व्यापार का उपदेश देना, क्लेशवणिज्या–दास–दासी आदि के क्लेशकारी व्यापार का उपदेश देना, हिंसोपदेश–हिंसा के कारणों का उपदेश देना, आरंभोपदेश–बाग लगाने अग्नि जलाने आदि आरम्भ कार्यों का उपदेश देना, प्रलभोपदेश–ठग विद्या, इन्द्रजाल आदि कार्यों का उपदेश देना। ये सब पापोपदेश अनर्थदण्ड हैं।

हिंसादान अनर्थदण्ड

परशुकृपाणखनित्र-ज्वलनायुधशृङ्गशृङ्खलादीनाम्।
बधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः।।77।।

हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, अनेक प्रकार के शस्त्र, सींगी, विष, सांकल आदि वस्तुओं का देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है।

अपध्यान अनर्थदण्ड

वधबन्धच्छेदादे - र्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः।।78।।

पर के स्त्री, पुत्र, मित्र आदि का अनिष्ट हो जावे, वे मर जावें, इनको कोई बांध दे, मार दे, काट दे, इनकी हार हो जावे, इत्यादि प्रकार से राग या द्वेष की भावनावश अन्य के प्रति ऐसा चिंतन करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है, ऐसा जिन शासन में कुशल जनों ने कहा है।

दुःश्रुति अनर्थदण्ड

आरम्भसङ्गसाहस - मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुति-रवधीनां दुःश्रुतिर्भवति।।79।।

आरंभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मद और कामभोग लोभ आदि से मन को मलिन करने वाले ऐसे शास्त्रों का–पुस्तकों का सुनना या पढ़ना अथवा पढ़ाना यह सब दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड

क्षितिसलिलदहनपवना-रम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च, प्रमादचर्य्यां प्रभाषन्ते।।80।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का बिना कारण ही आरम्भ करना अर्थात् बिना प्रयोजन ही भूमि खोदना, जल गिराना, अग्नि जलाना, हवा करना, व्यर्थ ही वनस्पति, अंकुर, वृक्ष आदि को छेदन भेदन करना, व्यर्थ ही इधर उधर घूमना या अन्य का घुमाना ये सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है।

अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार

कन्दर्पं-कौत्तकुच्यं, मौखर्य-मतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्याधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः।।81।।

हास्य मिश्रित अश्लील वचन बोलना, काय की कुचेष्टा करते हुये अश्लील वचन बोलना, धृष्टता सहित बकवास करना–व्यर्थ ही बहुत बोलना, आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग वस्तुओं का संग्रह करना और बिना विचारे कार्य करना ये कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण नाम के पाँच अतिचार अनर्थदण्डविरतिव्रत के माने गये हैं।

2.5 भोगोपभोग परिमाण व्रत का स्वरूप-

अक्षार्थानां परिसंख्यानं, भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये।।82।।

परिग्रह परिमाण व्रत में जीवन भर के लिए जो नियम किया था, राग आसक्ति को घटाने के लिए उसी के भीतर भी पंचेन्द्रियों के विषयभूत वस्तुओं का नियम करते रहना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। इस व्रत के प्रयोजन से अतिरिक्त वस्तुओं का त्याग हो जाता है।

भोग–उपभोग के लक्षण

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन-प्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः।।83।।

जो एक बार भोगकर छोड़ दी जाती हैं वह भोग कहलाती हैं और जो भोगकर पुनः भोगने में आती है वह उपभोग है। जैसे, भोजन, गंध आदि भोग हैं और वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग हैं।

सर्वथा त्याज्य पदार्थ

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः।।84।।

त्रस जीवों की हिंसा के परिहार हेतु मधु और मांस का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए। तथा त्रसहिंसा और प्रमाद के दूर करने के लिए मदिरा को छोड़ देना चाहिए। जिसने जिनेन्द्रदेव के चरणों की शरण ली है उस श्रावक को जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुसार इन तीनों मकारों का त्याग जीवन भर के लिए कर देना चाहिये।

अन्य त्याज्य पदार्थ

अल्पफलबहुविघाता-न्मूलकमार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम्।।85।।

जिसके खाने में फल थोड़ा है और स्थावर हिंसा बहुत होती है ऐसी मूली आलू आदिक कंदमूल, गीली अदरक, मक्खन, नीम के पुष्प, केवड़ा के पुष्प आदि को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि इनके भक्षण में पाप अधिक होने से व्रतिक जन इनको नहीं लेते हैं।

2.6 व्रत का स्वरूप-

यदनिष्टं तद् व्रतये-द्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृताविरति-र्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।।86।।

जो वस्तुयें अनिष्ट हैं—हितकर और पथ्य नहीं हैं, जो अनुपसेव्य—सज्जन पुरुषों के सेवन योग्य नहीं हैं, इन दोनों को भी छोड़ देना चाहिए। क्योंकि योग्य विषयों में भी प्रतिज्ञापूर्वक किया गया त्याग व्रत कहलाता है।

यम और नियम

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।।87।।

भोगोपभोग के विषयों के त्याग में नियम और यम ऐसे दो भेद होते हैं। किसी भी वस्तु का कुछ काल के लिए त्याग करना नियम है और जीवन भर के लिए त्याग कर देना यम कहलाता है।

2.7 नियम की विधि-

भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषण - मन्मथसङ्गीत - गीतेषु।।88।।
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।।89।।

भोजन, वाहन, शय्या, स्नान, पवित्र अंग में सुगन्धित गंध माला आदि तथा तांबूल–पान, वस्त्र, आभूषण, कामभोग, संगीतश्रवण, गीत नाटक आदि ये सभी भोगोपभोग सामग्री हैं। इनमें से सभी का, किसी एक दो आदि विषयों का, कुछ दिन की मर्यादा से नियम करना। जैसे कि आज एक दिन या रात्रि, पन्द्रह दिन, महिना, दो महिना, छः महिना आदि की अवधि से इनका त्याग करना नियम है। जैसे भी हो सके वैसे इन विषयों में लालसा को घटाना ही इस व्रत का हेतु है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार

विषयविषतोऽनुपेक्षा-नुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवो।
भोगोपभोगपरिमा-व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।।90।।

इन विषयरूपी विष का सेवन कर इनकी उपेक्षा नहीं करना सो विषयविषानुपेक्षा नामक अतिचार है। भोगे हुए विषयों का पुनः स्मरण करना, भोगों के भोगने पर पुनः भोगने की इच्छा रखना, भविष्य में भी भोगों की अति इच्छा रखना और तात्कालिक भोग वस्तुओं का सेवन करते हुए अति आसक्ति रखना, ये पांच इस भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं। गुणव्रती श्रावक इनको छोड़ देते हैं।

2.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-गुणव्रत किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 2-दिग्व्रत का क्या लक्षण है ? उसके मर्यादा की क्या विधि है ?

प्रश्न 3-अनर्थदण्ड व्रत का क्या स्वरूप है ?

प्रश्न 4-अनर्थदण्ड के कितने भेद हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 5-भोगोपभोग परिमाण व्रत से क्या अभिप्राय है ?

प्रश्न 6-भोग और उपभोग में तथा यम और नियम में क्या अन्तर है ?

पाठ-3 — चार शिक्षाव्रत

3.1 शिक्षाव्रत के भेद-

देशावकाशिकं वा, सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैय्यावृत्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि।।91।।

जो मुनिव्रत की शिक्षा देते हैं वे शिक्षाव्रत हैं। इनमें चार भेद होते हैं- देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य। इन व्रत को पालन करने वाले श्रावक बारह व्रतों के धारक हो जाते हैं।

3.2 देशावकाशिक शिक्षाव्रत-

देशावकाशिकं स्यात्, कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां, प्रतिसंहारो विशालस्य।।92।।

दिग्व्रत में जो दशों दिशाओं की लम्बी चौड़ी मर्यादा की थी उसके अन्दर प्रतिदिन भी कुछ काल की अवधिपूर्वक नियम करते रहना देशावकाशिक व्रत है। अणुव्रती धारकों का यह व्रत देशों की मर्यादा करने में सार्थक नाम वाला है।

देशव्रत में क्षेत्र मर्यादा की विधि

गृहहारिग्रामाणं, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः।।93।।

घर, गली, ग्राम आदि से, खेत नदी बगीचों से, योजन या कोश आदि की अवधि से सीमा करके संयम की इच्छा से आगे जाने का नियम कर लेना और यथाशक्ति इसको पालन करना सो पहला देशावकाशिक शिक्षाव्रत है। तप में प्रसिद्ध गणधरदेवों ने इसे संसार से पार कराने वाला कहा है।

देशव्रत में काल की मर्यादा की रीति

सम्वत्सरमृतुरयनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः।।94।।

वर्ष, छह महीने, चार महीने, दो महीने, एक महीना, पन्द्रह दिन दश, दिन, एक दिन आदि से काल की अवधि कर लेना, जैसे "मैं आज अमुक घर या वन तक ही जाऊंगा उसके बाहर नहीं जाऊंगा" आचार्य ने इसे ही देशावकाशिक व्रत कहा है।

3.3 यह व्रत भी उपचार से महाव्रत है-

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसन्त्यागात्।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।।95।।

इसकी मर्यादा के बाहर स्थूल और सूक्ष्म ऐसे पाँचों ही पापों का त्याग हो जाता है। इसलिए इस देशव्रती के इस सीमा के बाहर में अणुव्रत भी महाव्रत रूप हो जाते हैं, यह औपचारिक कथन है ऐसा समझो।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

प्रेषण-शब्दा-नयनं, रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च।।96।।

इस देशावकाशिक व्रत की मर्यादा के बाहर किसी मनुष्य को भेज देना, मर्यादा के बाहर काम करने वाले के प्रति ताली, चुटकी, हुंकार आदि शब्द से संकेत करना, मर्यादा के बाहर से कोई वस्तु मंगाना, मर्यादा के बाहर वाले को

अपना शरीर आदि दिखाना और मर्यादा के बाहर काम करने वाले को इशारा करने हेतु कंकड़ आदि फेंकना इस प्रकार से प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप ये पाँच अतिचार देशावकाशिक व्रत के हैं।

3.4 सामायिक शिक्षाव्रत-

आसमयमुक्ति मुक्तं, पञ्चाघानामशेष-भावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः, सामयिकं नाम शंसन्ति।।97।।

सामायिक के लिए समय निश्चित करके पाँचों ही पापों का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देने से उसी काल में श्रावक को सामायिक शिक्षाव्रत होता है, ऐसा श्री गणधर ने कहा है।

समय शब्द की व्युत्पत्ति

मूर्धरुहमुष्टि-वासो-बन्धं, पर्य्यङ्क-बन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः।।98।।

जब तक चोटी में गांठ लगी रहे, मुट्ठी बँधी रहे या वस्त्र बंधा रहे या पर्यंकासन से बैठा रहूं या खड्गासन से खड़ा रहूँ या अन्य किसी सुखासन आदि से बैठा रहूं। जब तक ऐसी क्रिया हो तब तक का वह काल सामायिक कहलाता है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से कुछ बंधन करके सामायिक का काल निर्धारित करना ऐसा अभिप्राय समझ में आता है।

सामायिक योग्य स्थान

एकान्ते सामयिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।।99।।

आकुलता–उत्पादक रहित शुद्ध एकांत स्थान में या वन में, घर में, चैत्यालय में या पर्वत पर गुफा में, श्मशान में जहाँ कहीं भी चित्त को प्रसन्न करके नित्य ही सामायिक करना चाहिये। इसमें चैत्य पंचगुरु भक्ति पाठ सहित कृतिकर्म विधिपूर्वक विधिवत् क्रिया करनी चाहिए।

सामायिक बढ़ाने की रीति

व्यापार-वैमनस्या-द्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीया-दुपवासे चैकभुक्ते वा।।100।।

वचन और काय की क्रिया तथा मन की कलुषता को दूर करके, सभी संकल्प–विकल्पों को भी रोक करके उपवास के दिन अथवा एकाशन के दिन सामायिक अवश्य करना चाहिये।

प्रतिदिन सामायिक का उपदेश

सामयिकं प्रतिदिवसं-यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरण-कारणमवधान-युक्तेन।।101।।

प्रतिदिन भी आलस्य छोड़कर एकाग्रचित होकर शास्त्र कथित विधि के अनुसार रुचिपूर्वक सामायिक करना चाहिये। पाँचों महाव्रतों को पूर्ण करने के लिए ही सामायिक व्रत माना गया है। जो इस व्रत का पालन करते हैं वे अपनी आत्मा को पहचान लेते हैं।

3.5 सामायिक के समय मुनितुल्यता-

सामयिके सारम्भाः, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्।।102।।

जो श्रावक सामायिक के समय दो वस्त्र मात्र रखकर शेष सभी आरम्भ परिग्रह छोड़कर सामायिक करते हैं, वे जैसे

मुनि के ऊपर उपसर्ग करते हुए कोई वस्त्र छोड़ दें उनके समान हैं। यद्यपि वे गृहस्थ हैं तो भी उस समय मुनि के तुल्य माने जाते हैं।

परीषह–उपसर्ग सहन का उपदेश

शीतोष्णदंशमशक-परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना, अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः।।103।।

श्रावक जब मौनपूर्वक निश्चल होकर सामायिक करते हैं उस समय उन्हें शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि की परीषह भी सहन करना चाहिए। यदि देव, मनुष्य या तिर्यंचकृत उपसर्ग आ जावे तो उसे भी सहन करना चाहिये और मन वचन काय को वश में रखना चाहिए।

सामायिक के समय चिंतन

अशरणमाशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीता-त्मेति ध्यायन्तु सामयिके।।104।।

यह संसार अशरण, अशुभ, क्षणभंगुर और दुःखरूप है, पर है, आत्मरूप नहीं है। मैं ऐसे संसार में निवास कर रहा हूँ। मोक्ष इससे विपरीत शरणभूत, शुभ, शाश्वत, सुखरूप और स्वात्मरूप है। सामायिक में ऐसा ध्यान करना चाहिए क्योंकि शुद्ध नय से यह आत्मा शुद्ध स्वरूप है।

सामायिक के अतिचार

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन।।105।।

मन को चंचल करना, वचन को अशुभ या चंचल करना, काय को अस्थिर रखना, सामायिक में अनादर करना, प्रमाद से पाठ को भूल जाना ये पांच अतिचार सामायिक व्रत के हैं। इनको छोड़ने से आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

3.6 प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत-

पर्वण्यष्टम्यां च, ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः।।106।।

प्रत्येक मास की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को अपनी इच्छा से आगम के अनुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत है। यह तप करना सिखाता है। इस व्रत के धारी शरीर से निर्मम बन जाते हैं।

उपवास के दिन त्याज्य कार्य

पञ्चानां पापाना-मलङ्क्रिया-रम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्।।107।।

जिस दिन उपवास हो उस दिन पाँचों पापों का त्याग करके आरम्भ, गंध, माला, अलंकार, स्नान, अंजन, मंजन, नस्य आदि क्रियाओं का त्याग कर देना चाहिये। उस दिन शरीर से ममत्व दूर करने हेतु वैराग्य भाव को धारण करना चाहिए।

उपवास के दिन कर्त्तव्य

धर्मामृतं सतृष्णः, श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसन्नतन्द्रालुः।।108।।

उपवास दिवस आलस्य रहित होकर शास्त्रों का पठन करे। अति उत्कंठा से धर्मरूपी अमृत को पीवे अर्थात् कानों

से श्रवण करे और अन्यों को भी धर्म श्रवण करावे। ज्ञान और ध्यान में तत्पर होता हुआ उपवास को सफल कर लेवे।

प्रोषध और उपवास का लक्षण

चतुराहारविसर्जन-मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति।।109।।

अशन, खाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना 'उपवास' है और एक बार भोजन करना 'प्रोषध' है। तेरस को एकाशन करके चौदस को उपवास, पुनः पूनो को एकाशन करना प्रोषधोपवास है, ऐसे ही अष्टमी के लिए समझना।

प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार

ग्रहणविसर्गास्तरणा-न्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास-व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम्।।110।।

बिना देखे बिना शोधे पूजा के उपकरण ग्रहण करना, बिना देखी बिना सोधी जमीन पर मलमूत्रादि त्याग करना, बिना देखे बिना सोधे बिस्तर बिछाना, आवश्यक आदि क्रियाओं में अनादर करना और योग्य क्रियाओं को भूल जाना प्रोषधोपवास व्रत के ये पाँच अतिचार होते हैं।

3.7 वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) का लक्षण-

दानं वैयावृत्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारो-पक्रियमगृहाय विभवेन।।111।।

गुणों के निधान और तपरूपी धन को धारण करने वाले ऐसे मुनियों को धर्म के लिए जो दान देना वह वैयावृत्य है। यश, मंत्र आदि प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना अपने वैभव के अनुसार जो गृहत्यागी मुनियों की भक्ति और उनको दान आदि देना वही वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है।

वैयावृत्य का दूसरा लक्षण

व्यापत्तिव्यपनोदः, पदयोः सम्वाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावा-नुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।।112।।

मुनियों के गुणों में अनुराग करते हुए उनके दुःखों को दूर करना, उनके पैरों को दबाना और भी यथायोग्य उपकार करना तथा आर्यिका आदि संयमियों की भी भक्ति सेवा करना वह सब वैयावृत्य है जो कि सुख सम्पत्ति का दाता है।

3.8 दान का लक्षण-

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणा-मार्याणामिष्यते दानम्।।113।।

1. श्रद्धा अरू सन्तोष भक्ति ज्ञान निर्लोभता।
   क्षमासत्व गुण सात दाता के प्रभु ने कहे।।
2. कूटना पीसना चूल्हा आदि जलाना अथवा जलवाना।
   जो करे बुहारी आदि पंचसूना नहिं मोक्ष उन्हें जाना।।

पड़गाहन, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये नवधाभक्ति कहलाती है। श्रद्धा भक्ति आदि सात गुणों से युक्त श्रावक मुनियों को नवधाभक्ति पूर्वक जो आहार देते हैं उसी का नाम दान है।

श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, ज्ञान, निर्लोभता, क्षमा और सत्त्व ये सात दाता के गुण कहे हैं।।1।।

कूटना, पीसना आदि जो पंचसूना कार्य है वह जब तक करता है तब तक मोक्षमार्ग को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकता है।

दान का फल

गृहकर्मणापि निचितं, कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा, रुधिरमलं धावते वारि।।114।।

अग्नि जलाना आदि गृहस्थी के कार्य रूप जो पांच सूना हैं उनके करने से रात–दिन पापों का संचय होता रहता है। वह सब पाप गृहत्यागी संयमी को आहार देने से नष्ट हो जाता है। जैसे कि रुधिर से गंदा हुआ वस्त्र जल से धुलकर स्वच्छ हो जाता है।

3.9 नवधा भक्ति का फल-

उच्चै र्गोत्रं प्रणते-र्भोगो दानादुपासनात्पूजां।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।115।।

तपोनिधि मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र मिलता है, उनको दान देने से भोग मिलते हैं, उनकी उपासना करने से पूजा होती है, उनकी भक्ति करने से सुन्दर रूप मिलता है और उनकी स्तुति करने से कीर्ति बढ़ती है। इस तरह गुरु की उपासना से सब सुख सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

अल्पदान से महाफल

क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।।116।।

अच्छी उपजाऊ भूमि में बोया गया छोटा भी बड़ का बीज बहुत बड़ा वृक्ष बन जाता है, समय पर बहुत बड़ी छाया देता है और मिष्ठ फल भी देता है। वैसे ही जो विधिवत् उत्तम पात्रों में यदि थोड़ा–सा भी दान देते हैं तो वह समय पर बहुत फल देता है, इच्छानुकूल सभी वैभव प्रदान करता है।

दान के भेद

आहारौषधयोर-प्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।।117।।

आहारदान, औषधिदान, उपकरणदान और आवासदान इस वैयावृत्य के ये चार भेद कहे हैं। श्रावक मुनि को प्रासुक भोजन और शुद्ध औषधियों को देकर स्वस्थ करे तथा पिच्छी कमंडलु, शास्त्र आदि देकर व वसतिका देकर अपने जीवन को धन्य कर लेवे।

3.10 वैयावृत्य में अर्हंत पूजा-

देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्व-दुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनी, परिचिनुयादादृतो नित्यम्।।118।।

देवाधिदेव अर्हंत देव के चरणों की पूजा करने से सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं और इच्छित फल स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। तथा यह पूजा सम्पूर्ण विषय वासनाओं की इच्छा भी नष्ट कर देने वाली है। इसलिए आदरपूर्वक नित्य ही जिन पूजा करना चाहिए क्योंकि इसके सदृश अन्य दूसरा उत्तम कार्य नहीं है।

दानों में प्रसिद्ध नाम

श्रीषेण-वृषभसेने, कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः।।119।।

श्रीषेण राजा आहार दान के फल से श्री शांतिनाथ तीर्थंकर हुये हैं। वृषभसेना ने औषधिदान के प्रभाव से अपने शरीर के स्पर्शित जल से बहुतों के रोग दूर किये हैं। कोंडेश ने मुनि को शास्त्रदान देकर अपने श्रुतज्ञान को पूर्ण कर प्रसिद्धि पाई है और सूकर ने मुनि को अभयदान देने के पुण्य से देवगति को प्राप्त किया है।

पूजा का माहात्म्य

अर्हच्चरणसपर्या - महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः, कुसुमेनैकेन राजगृहे।।120।।

राजगृही में मेंढ़क प्रमोद से हर्षित हुआ एक पुष्प लेकर जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए चल पड़ता है। मार्ग में हाथी के पैर के नीचे दबकर मरकर तत्क्षण ही देव हो जाता है और इस तरह अर्हंत पूजा के महात्म्य को सभी को प्रगट रूप से दिखला देता है।

वैयावृत्य के अतिचार

हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।।121।।

कमल पत्र आदि हरी वस्तु से भोजन को ढक देना, हरित पत्ते आदि पर रख देना, देते हुए पात्रों का अनादर करना, नवधा भक्ति आदि भूल जाना और अन्य दाताओं से मत्सर ईर्ष्याभाव रखना ये वैयावृत्य के पाँच अतिचार होते हैं।

3.11 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 2-देशावकाशिक व सामायिक शिक्षाव्रत का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 3-सामायिक के लिए योग्य स्थान कौन से हैं ?

प्रश्न 4-प्रोषध और उपवास किसे कहते हैं तथा प्रोषधोपवास व्रत के कितने अतिचार हैं ?

प्रश्न 5-नवधाभक्ति कौन सी हैं और दाता के 7 गुण क्या हैं ?

प्रश्न 6-चार दोनों में प्रसिद्ध व्यक्ति कौन हुए हैं ?

पाठ-4 — श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

4.1 सामान्य भाषा में प्रतिमा का अर्थ पाषाण, धातु या रत्नों की बनी प्रतिमा से होता है। किन्तु नैष्ठिक श्रावक के संदर्भ में व्रत आदि गुणों में उत्तरोत्तर विकास हेतु ग्यारह पद या दर्जे कहे गये हैं। ये ही श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कहलाती हैं। प्रतिमाएँ तप, साधना की क्रमशः बढ़ती हुई अवस्थाएँ हैं। अगली प्रतिमाधारी को पूर्व की प्रतिमाओं के व्रत, नियम आदि की पालना करना भी आवश्यक होता है। श्रावक अपने व्रत, नियम, तप, साधना आदि की पालना करता हुआ प्रथम से दूसरी और दूसरी से तीसरी तथा इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा तक चढ़ता है। प्रतिमाएँ जीवन भर के लिये ली जाती हैं, सीमित अवधि के लिये नहीं।

प्रथम से छठवीं प्रतिमाधारियों को जघन्य श्रावक (गृहस्थ) कहते हैं, सातवीं से नवमी प्रतिमाधारियों को मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) कहते हैं और दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारियों को उत्तम श्रावक (भिक्षुक) कहते हैं। ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिका 11 प्रतिमाधारी होते हैं। ग्यारह प्रतिमा के ऊपर मुनि अथवा आर्यिका का पद होता है।

4.2 ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

1. दर्शन प्रतिमा – निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अतिचार रहित अष्ट मूलगुण का धारण करना तथा सप्त व्यसनों का त्याग करना श्रावक की पहली प्रतिमा है। वह संसार से उदासीन रहता है, किसी शुभ कर्म के फल की इच्छा नहीं करता है, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है, भोजन में चींटी, बाल आदि आने पर अंतराय करता है, सदाचार का पालन करता है, न्याय नीति से व्यापार, कृषि आदि कार्य करता है, आदि।

2. व्रत प्रतिमा – जो 12 व्रतों (5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, और 4 शिक्षाव्रत) का पालन करता है, वह दूसरी प्रतिमा का धारी है।

3. सामायिक प्रतिमा – प्रतिदिन तीन बार (प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल) नियम पूर्वक सामायिक करने की प्रतिज्ञा लेना इस प्रतिमा में आता है। इसमें बारह भावना, सोलह कारण-भावना, संसार भोगों की क्षण भंगुरता तथा आत्म स्वरूप आदि का चिन्तवन व णमोकार मंत्र आदि का जाप किया जाता है।

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा – दिन में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है तथा एक बार भोजन करना प्रोषध है। प्रत्येक माह में आने वाले 4 पर्वों (2 अष्टमी और 2 चतुर्दशी) को प्रोषध/ उपवास करना तथा एकान्त में बैठकर धर्म ध्यान करने वाला इस प्रतिमा का धारी होता है। उत्कृष्ट प्रोषध प्रतिमा में पर्व के दिन उपवास और उसके पूर्व के और बाद के दिनों में एक बार भोजन किया जाता है। मध्यम में तीनों दिन एकासन किया जाता है तथा जघन्य में पर्व के दिन एक बार भोजन किया जाता है। केवल भूखा रहने का नाम उपवास नहीं है बल्कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति उदासीन होना भी आवश्यक है।

5. सचित्त-त्याग प्रतिमा – जिस वस्तु में जीव हों उसे सचित्त कहते हैं। अतः ऐसे पदार्थ जिनमें जीव हों, उन्हें नहीं खाने वाला सचित्त-त्याग प्रतिमाधारी होता है। कच्चे जल, कच्चे फल, बीज आदि हरित काय वनस्पति सचित्त हैं। इस प्रतिमाधारी के द्वारा इनका त्याग किया जाता है। सूखने पर या अग्नि पर पकाये जाने पर वनस्पति आदि पदार्थ अचित्त या प्रासुक हो जाते हैं। सचित्त वस्तु को अचित्त करने में यद्यपि जीव हिंसा तो होती है, किन्तु इस प्रतिमाधारी द्वारा सचित्त वस्तु का उपयोग नहीं किया जा सकता है और वह अचित्त का ही उपयोग कर सकता है।

6. रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा – जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है, वह इस प्रतिमा का धारी होता है। भोजन करने का समय सूर्यास्त से 2 घड़ी (48 मिनट) पूर्व तथा सूर्योदय से 2 घड़ी पश्चात् है।

दूसरे व्यक्ति को रात्रि में भोजन कराने का त्याग भी इस प्रतिमाधारी के होता है। पहली प्रतिमाधारी के भी रात्रि

भोजन का त्याग होता है। फिर भी कुटुम्बी-जन अथवा अन्य लोगों के निमित्त से कारित और अनुमोदना सम्बन्धी जो दोष लगता था, उसका यहां त्याग हो जाता है। जैनेतर समाज के व्यक्ति द्वारा यदि श्रावक-धर्म अंगीकार किया जाता है तो उसे प्रथम प्रतिमा में रात्रि भोजन त्याग कठिन होता है। इसी से छठवीं प्रतिमा में सभी प्रकार के रात्रि भोजन का त्याग कहा है।

दिवा-मैथुन त्याग प्रतिमा - उक्त छठी प्रतिमा का दूसरा नाम दिवा-मैथुन त्याग प्रतिमा भी है क्योंकि दिन में काम सेवन का उसके पूर्ण त्याग रहता है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा - काम-सेवन से पूर्णतया विरक्त होकर अपनी पत्नी तथा अन्य सभी स्त्रियों का त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा - आजीविका तथा गृह कार्य सम्बन्धी सभी क्रियाओं का त्याग करना आरम्भ त्याग प्रतिमा कहलाता है। इस प्रतिमा का धारी, हिंसा के कारण खेती, नौकरी, व्यापार आदि कार्यों की सभी क्रियाओं का त्याग कर देता है। वह धार्मिक कार्य (पूजन आदि) कर सकता है। परन्तु जीविका उपार्जन हेतु कोई क्रिया नहीं करता है। अपने पूर्व संचित धन से ही अपना जीवन निर्वाह करता है। श्रावक के द्वारा बुलाये जाने पर उसके यहां भोजन कर सकता है।

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा - दैनिक उपभोग में आने वाली कुछ वस्तुओं (वस्त्र, बर्तन, पूजन के उपकरण आदि) को छोड़कर शेष समस्त परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग प्रतिमा है। यह प्रतिमाधारी घर का त्याग कर देता है और संघ या धर्मशाला में रहता है। वह श्रावक द्वारा निमंत्रित करने पर भोजन ग्रहण करता है। परिग्रह के 24 भेद हैं- अंतरंग 14 व बाह्य 10 ।

10. अनुमति त्याग प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी अपने परिजन या अन्य व्यक्तियों को खेती, व्यापार, विवाह आदि संसारी कार्यों के सम्बन्ध में अनुमति या सलाह नहीं देता है और अनुमोदन भी नहीं करता है।

11. उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा - उद्दिष्ट का अर्थ होता है जिसका विचार किया गया हो या जो नियत किया हुआ है। दाता और पात्र की दृष्टि से उद्दिष्ट आहार दो प्रकार का होता है। दाता यदि दोष युक्त आहार साधु को देता है तो वह दाता सम्बन्धी उद्दिष्टाहार है। यदि पात्र अर्थात् साधु या व्रती अपने लिये आहार बनवाये अथवा आहार के उत्पादन सम्बन्धी कोई विकल्प करें तो वह पात्र सम्बन्धी उद्दिष्टाहार है।

जो अपने घर को छोड़कर मुनि संघ में दीक्षा ग्रहण करके साधना करता है, उद्दिष्ट आहार का त्याग करता है, निमंत्रण से आहार स्वीकार नहीं करता है, आहार हेतु याचना नहीं करता है, दिन में एक बार आहार ग्रहण करता है, खण्ड वस्त्र धारण करता है, वह इस ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी होता है।

4.3 इस प्रतिमा के धारण करने वाले उत्कृष्ट श्रावक होते हैं जिनके दो भेद हैं-

ऐलक - ये केवल लंगोटी रखते हैं, अन्य कोई वस्त्र नहीं रखते हैं, पिच्छी व कमण्डलु रखते हैं, नियम से केशलोच करते हैं, दिन में एक बार बैठ कर कर-पात्र (हाथ) में आहार लेते हैं और पैदल विहार करते हैं।

क्षुल्लक - ये एक लंगोटी और एक खण्ड-वस्त्र (दुपट्टा) रखते हैं। ये सिर, दाढ़ी-मूंछ की हजामत कैंची से या उस्तरे से करवा सकते हैं, अथवा केशलोंच भी कर लेते हैं, पिच्छी और कमण्डलु रखते हैं, बैठकर पात्र (कटोरा-थाली आदि) में भोजन ग्रहण करते हैं।

4.4 पद में आर्यिका ऐलक से बड़ी होती है-

यद्यपि आर्यिका व ऐलक दोनों पंचम गुणस्थानवर्ती होते हैं फिर भी आर्यिका पद में बड़ी होती है। ऐलक के पास

केवल एक छोटी सी लंगोटी होती है। वह चाहे तो उसे भी त्याग कर मुनिपद धारण कर सकता है मगर वह लंगोटी को छोड़ता नहीं है। अत: उपचार से वह महाव्रती नहीं हो सकता है। जबकि आर्यिका के पास साड़ी होते हुए भी उसे उपचार से महाव्रती माना गया है क्योंकि साड़ी नहीं छोड़ना उसकी मजबूरी है। फलस्वरूप आर्यिका का पद ऐलक से बड़ा होता है और वह (ऐलक) आर्यिका को वंदामि करता है।

4.5 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रतिमा किसे कहते हैं ? यह कितने प्रकार की होती हैं ? नाम बताओ।

प्रश्न 2-उत्तम, मध्यम और जघन्य श्रावक कौन हैं ? 11 प्रतिमाधारी श्रावक किन्हें कहते हैं ?

प्रश्न 3-अनुमति त्याग व उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 4-उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद कौन से हैं? उनमें क्या भिन्नता है ?

प्रश्न 5-पद में आर्यिका ऐलक से बड़ी होती है, इसका क्या कारण है ?

इकाई–3 श्रमणाचार

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) श्रमणाचार के अन्तर्गत मूलगुण

(2) आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी

(3) समाचार विधि एवं अन्य

(4) मुनियों की आहारशुद्धि

(5) आवश्यक क्रिया

पाठ-1–श्रमणाचार के अन्तर्गत मूलगुण

1.1 श्रमणाचार—

जैनाचार का प्रमुख उद्देश्य अनादिकालीन राग-द्वेषादिक विकारों का समूल उच्छेदकर आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है। इसलिए श्रावक अपने 'श्रावक-धर्म' संबंधी नियमों का पालन करता हुआ साधुत्व की ओर कदम बढ़ाता है।

जो अपनी आत्मा की उपलब्धि के लिए सतत साधनारत रहता है, वह साधु है। जैन दर्शन में साधु को मुनि, ऋषि, यति, अनगार, श्रमण, संयत, महाव्रती, अचेलक, दिगम्बर, भदन्त, दान्त आदि अनेक नामों से जाना जाता है। वे जिनागम में वर्णित मूल गुणों का पालन करते हैं।

1.2 साधुओं के 28 मूलगुण—

आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों में सर्वप्रथम अट्ठाईस मूलगुण होना परम आवश्यक है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही मूलगुणों के बिना मुनि नहीं हो सकते। आइये देखते हैं इन मूलगुणों का वर्णन—

मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं। 'मूल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। फिर भी यहाँ मूल का प्रधान—मुख्य ऐसा अर्थ लिया गया है। 'गुण' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं फिर भी यहाँ 'आचरण विशेष' ऐसा अर्थ लिया है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक में हित करने वाले हैं। इस लोक में सर्वजनमान्यता गुरुपना और सभी जनों के साथ मैत्रीभाव आदि गुण होते हैं और परलोक में देवों का ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद, चक्रवर्तिपद आदि प्राप्त होते हैं और परम्परा से यह आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। इन मूलगुणों के बिना आज तक किसी को शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हुई है और शुक्लध्यान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि ये मूलगुण वृक्ष की मूल-जड़ या बीज के समान ही मोक्ष के लिए मूलकारण हैं और तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट होने से प्रामाणिक हैं।

मूलगुण अट्ठाईस हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक तथा लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

मुख्यव्रतों को महाव्रत कहते हैं। 'महान् शब्द का अर्थ प्रधान है और व्रत शब्द, सावद्यनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण में आता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है, उसे ही व्रत कहते हैं। तीर्थंकर आदि महान् पुरुषों के द्वारा इनका अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए भी इन्हें महाव्रत कहते हैं।' अथवा महान् पुरुषार्थ जो मोक्ष उसकी प्राप्ति में ये स्वतः ही हेतु होते हैं इसलिए महाव्रत कहलाते हैं।

1.3 पाँच महाव्रत-

1. अहिंसा महाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

2. सत्यमहाव्रत—राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात हो जावे, वह सत्यमहाव्रत है।

3. अचौर्यमहाव्रत—ग्राम, शहर आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी गई ऐसी योग्य वस्तु को भी नहीं लेना सो अचौर्यमहाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत—राग भाव को छोड़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. अपरिग्रह महाव्रत—धन, धान्य आदि दस प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग कर देना, वस्त्राभूषण अलंकार आदि का पूर्णतया त्याग कर देना, लंगोटी मात्र भी नहीं रखना, सो अपरिग्रहमहाव्रत है।

आगम के कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि में सं-सम्यक् इति प्रवृत्ति करना समिति हैं। ये समितियाँ व्रतों की रक्षा करने में वृत्ति-बाड़ के समान हैं। इनके भी पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

1.4 पाँच समितियाँ-

(1) ईर्या समिति—निर्जंतुकमार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्म कार्यों के लिए गमन करना ईर्या समिति है।

(2) भाषासमिति—चुगली, हंसी, कर्कस, परनिंदा आदि से रहित हित-मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है।

(3) एषणा समिति—छ्यालिस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

(4) आदाननिक्षेपणसमिति—पुस्तक, कमण्डलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना उठाना, तृण, घास, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना सो आदाननिक्षेपणसमिति है।

(5) उत्सर्गसमिति—हरी घास से रहित, चिंवटी आदि से या उनके बिलों से रहित प्रासुक और एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनसमिति है।

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इंद्रियों को वश में रखना, इनको शुभध्यान में लगा देना पंचेन्द्रिय निरोध होता है। इसके भी पाँचों इंद्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हो जाते हैं।

1.5 पञ्चेन्द्रिय निरोध-

(1) स्पर्शन इंद्रिय निरोध—सुखदायक, कोमल, स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनंद या खेद नहीं करना।

(2) रसनेन्द्रिय निरोध—सरस, मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।

(3) घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुगंधित पदार्थ में या दुर्गंधित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना।

(4) चक्षु इन्द्रिय निरोध—स्त्रियों के सुन्दररूप या विकृत वेष आदि में रागभाव और द्वेषभाव नहीं करना।

(5) कर्णेन्द्रिय निरोध—सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर—निंदा गाली आदि के वचनों में हर्ष विषाद नहीं करना। यदि कोई मधुर गीतों से गान करता हो, तो उसे रागभाव से नहीं सुनना।

जो अवश्य—जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद हैं—समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

1.6 छह आवश्यक-

(1) समता—"जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक कहते हैं। त्रिकाल में देववंदना करना यह भी सामायिकव्रत है।" प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त—48 मिनट तक सामायिक करना होता है।

(2) स्तुति—वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव नाम का आवश्यक है।

(3) वंदना—अर्हंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमाओं को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

(4) प्रतिक्रमण—अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना—दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक आदि सात भेद हैं।

(5) प्रत्याख्यान—मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनन्तर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

"अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमानकाल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यही इन दोनों में अन्तर है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के निराकरण हेतु ही है।"

(6) कायोत्सर्ग—दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

1.7 शेष सात मूलगुण इस प्रकार हैं-

(1) लोंच—हाथों से अपने शिर, दाढ़ी और मूँछ के बाल उखाड़ना, केशलोंच मूलगुण हैं।

(2) अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है। यह जितेन्द्रिय महान् पुरुषों के द्वारा स्वीकार किया जाने से तीनों जगत् में वंदनीय महान् पद है। वस्त्रों के ग्रहण करने से परिग्रह, आरंभ, धोना, सुखाना और याचना करना आदि दोष होते हैं। अतः निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

(3) अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को भी धो डालते हैं। चांडाल आदि अस्पृश्य जन का अथवा विष्ठा, हड्डी, चर्म आदि का स्पर्श हो जाने से मुनि दंडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त भी ग्रहण करते हैं।

(4) क्षितिशयन—निर्जंतुक भूमि में घास, पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होता है।

(5) अदंतधावन—दंत मंजन नहीं करना अदंतधावन व्रत है। दांतों को नहीं घिसने से इंद्रिय संयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है।

(6) स्थितिभोजन—पांवों को चार अंगुल अन्तराल से रखकर एक स्थान में खड़े होकर दोनों हाथों की अंजुली बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

(7) एकभक्त — एक बेला में आहार लेना — सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में सामायिक काल को छोड़कर एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है।

इस प्रकार दिगम्बर जैन साधु इन 5+5+5+6+7=28मूलगुणों का पालन करते हुए इस जगत् में सर्वत्र पूज्य होते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करने वाले होते हैं।

1.8 दिगम्बर मुनि के बाह्य चिन्ह-

आचेलक्य, लोंच, शरीर संस्कार हीनता और मयूरपिच्छिका मुनियों के ये चार चिन्ह माने हैं।''

आचेलक्य — चेल — वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना। यहाँ चेल शब्द उपलक्षण मात्र है अतः वस्त्र के साथ, खेत, घर, धन, धान्यादि सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना विवक्षित है। यह नग्नता ही निर्ग्रंथता है और यह उत्सर्ग लिंग है।

निर्ग्रंथ अवस्था धारण किये बिना मुक्ति असंभव है। वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण आभरण आदि धारण नहीं करना ही अचलेकता है। यह अचेलकत्व व्रत जगत् में पूज्य है और अट्ठाईस मूलगुणों में एक मूलगुण है।

लोंच — स्नान और केशों का संस्कार आदि न करने से उसमें जूँ आदि उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिए अपने हाथ से मस्तक, दाढ़ी और मूँछ के केशों को उखाड़ना केशलोंच है। यह प्रदक्षिणावर्तरूप से अर्थात् दाहिने बाजू से आरंभ कर बायें तरफ आवर्त से किया जाता है। 'दो मास के अनन्तर अथवा पूरे दो मास होने पर लोंच करना उत्कृष्ट है। तीन मास के बीत जाने पर अथवा पूरे नहीं भी होने पर अथवा पूरे तीन मास होने पर केशलोंच करना मध्यम है। चार मास पूर्ण होने पर अथवा अपूर्ण रहने पर लोंच करना जघन्य है किन्तु चार महीने के ऊपर नहीं होना चाहिए।''

उपवासपूर्वक ही लोंच करना होता है। पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन ही लोंच करना चाहिए अथवा बिना प्रतिक्रमण के दिन भी लोंच किया जा सकता है। पुनः लोंच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।' दैन्यवृत्ति, याचना, परिग्रह और तिरस्कार आदि दोषों से बचने के लिए ही यह केशलोंच क्रिया है। यह भी एक मूलगुण है। 'लोंच के समय मौन रखना चाहिए।'

व्युत्सृष्टशरीरता — शरीर से ममत्व का त्याग करना। इसमें मुनिगण जलस्नान, शरीर को उबटन, तैल आदि लगाकर अभ्यंग स्नान, नखों का, केशों का, दाढ़ी मूँछों का संस्कार, दंत, ओष्ठ आदि का, संस्कार नहीं करते हैं। सुगंधित कस्तूरी आदि से, पुष्प माला आदि से शरीर को नहीं सजाते हैं। इस प्रकार शरीर संस्कार स्नान आदि नहीं करने पर वे मुनि अत्यंत रुक्ष, मलिन शरीर के धारी होने पर भी ब्रह्मचर्य से पवित्र होने से पूज्य होते हैं। चूँकि अस्नान व्रत भी एक मूलगुण है।

1.9 प्रतिलेखन —

जिससे प्रतिलेखन-शोधन या संमार्जन किया जाये, वह प्रतिलेखन है। यहाँ मयूर के पंखों की पिच्छिका को प्रतिलेखन कहते हैं। कार्तिक मास में स्वयं ही मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं उन्हें ही ग्रहण कर यह बनाई जाती है।

दीक्षा के समय आचार्य इस संयम के उपकरणरूप पिच्छिका को जीवदया पालन हेतु शिष्यों को देते हैं।

आजकल कार्तिक मास में संघ में ये पिच्छिकाएं प्रायः आर्यिकाओं द्वारा बनाई जाती हैं पुनः आचार्य चातुर्मास समाप्ति पर चतुर्विध संघ के समक्ष स्वयं नूतन पिच्छिका ग्रहण करके सभी शिष्यों को नूतन पिच्छिका देते हैं।

इसमें पाँच गुण होते हैं — धूलि को ग्रहण नहीं करना, पसीने से मलिन नहीं होना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता।

यदि यह धूलि को ग्रहण करे तो इससे पसीने सहित का परिमार्जन नहीं बनेगा या सचित्त से अचित्त, अचित्त से सचित्त धूलि के परिमार्जन में दूषण आयेगा। यह पसीने को ग्रहण करे, तो पुनः पुस्तक आदि का परिमार्जन नहीं बनेगा। इसलिए धूलि और रज को ग्रहण न करने से सदैव सभी वस्तु का प्रतिलेखन बन जाता है। इसका स्पर्श बहुत ही कोमल

है। नेत्र में घुमाने पर भी बाधा नहीं होती है। सुकुमार—नमन शील है झुक जाती है अन्यथा कठोर होने से इससे जीवों को बाधा हो सकती है और लघु है—हल्की है।

प्रतिलेखन का कार्य— "ईर्यापथ से गमन करने में यदि त्रसजीव बहुत हैं, तो उन्हें पिच्छी से दूर किया जाता है। क्षेत्र या धूलि का रंग बदलने पर या धूप से छाया में और छाया से धूप में जाते समय साधु अपने सर्वांग को पिच्छी से परिमार्जित करके पैर की धूलि को पिच्छी से हटाकर आगे बढ़ते हैं। अथवा जल में प्रवेश करना हुआ तो पैर की धूलि झाड़कर जल में प्रवेश करते हैं।" मार्ग में गमन करते समय जल के आने पर घुटने तक जल में प्रवेश करने से एक कायोत्सर्ग करना होता है। यदि उससे अधिक जल होता है, तो उस जल की अधिक अधिक जल के प्रमाण से गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार पुस्तक, कमण्डलु आदि के ग्रहण करने में, रखने में, मल-मूत्रादि विसर्जन के स्थान में, खड़े होने में, बैठने में, सोने में, सीधे सोने में, करवट बदलने में, हाथ-पैर आदि फैलाने में, उनके संकोचने में, शरीर आदि के स्पर्श करने में, अन्य भी किन्हीं कार्यों में साधु सावधान होते हुए अपनी पिच्छिका से परिमार्जन कर त्रस आदि जीवों की रक्षा करते हैं।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी भी कह रहे हैं—

'जो द्वीन्द्रिय आदि सूक्ष्म प्राणी चर्म चक्षु से नहीं दिखते हैं। उनकी दया हेतु पिच्छी धारण की जाती है। मलमूत्र विसर्जन करना, रात्रि में सोया हुआ साधु जब उठकर बैठता है और पुनः सोता है, करवट बदलता है, हाथ पैर फैलाता है इत्यादि कार्यों में यदि पिच्छी से परिमार्जन किये बिना ये क्रियाएँ करता है, तो नियम से जीव हिंसा होती है। नेत्र में घुमाने पर भी इससे पीड़ा न होने से यह प्रतिलेखन सूक्ष्म आदि गुणयुक्त लघु पिच्छिका ग्रहण करना चाहिए। खड़े होने में, चलने आदि क्रियाओं में, इस प्रतिलेखन से शोधन किया जाता है। इसलिए स्वपक्ष में जैन मुनियों के चिन्ह में यह एक विशेष चिन्ह है।"

"जो मुनि अपने पास पिच्छी नहीं रखते हैं, वे उपर्युक्त क्रियाओं में जीवों के घात से नहीं बच सकते हैं अतः उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अन्यत्र भी कहा है—"कोई साधु बिना पिच्छी सात कदम गमन करे, तो एक कायोत्सर्ग से शुद्ध होता है। यदि एक कोश गमन करे, तो एक उपवास में शुद्ध होता है तथा आगे दूना-दूना प्रायश्चित्त है।"

यह पिच्छी जिनमुद्रा का चिन्ह है, मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है और मुद्रा रहित मनुष्य मान्य नहीं होता है।

साधु सामायिक वंदना, चतुर्विंशतिस्तव आदि के समय भगवान् को नमस्कार करते समय और गुरुओं को नमस्कार करते समय दोनों हाथों में पिच्छी को लेकर अंजुलि जोड़कर अर्थात् पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर वंदना आदि करते हैं।

इस प्रकार से पिच्छिका के गुण और कार्य बताये हैं। ये साधु स्वयं भी अपने हाथ से पिच्छी बना सकते हैं। अथवा श्रावकजन बनाकर प्रदान करते हैं। कहा भी है—

"यदि स्वाध्याय, व्याख्यान आदि क्रियाओं को न छोड़कर अवकाश के समय साधु पुस्तक, पिच्छी आदि उपकरण बनाता है, तो प्रायश्चित्त नहीं है यदि क्रिया में बाधा करके बनावें, तो प्रायश्चित्त है।"

1.10 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-मूलगुण किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-दिगम्बर जैन साधुओं के कितने मूलगुण होते हैं ?

प्रश्न 3-सभी मूलगुणों के नाम लिखो ?

प्रश्न 4-दिगम्बर मुनि के बाह्य चिन्ह कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 5-पिच्छी में कौन-कौन से गुण होते हैं ?

पाठ-2 – आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी

2.1 सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बहुलता के कारण साधुओं में जिन्हें प्रधान पद दिया जाता है और जो मुनि संघ के नायक होते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। ये पांच प्रकार के आचार (दर्शन, ज्ञान चारित्र, तप और वीर्य) का स्वयं पालन करते हैं व अपने शिष्यों से भी करवाते हैं। ये कभी-कभी धर्मोपदेश देते हैं, योग्य श्रावकों को दीक्षा देते हैं और अपने दोषों को प्रकट करने वाले संघस्थ मुनि आदि को प्रायश्चित्त देकर विधिपूर्वक शुद्ध भी करते हैं।

इसी प्रकार जिनागम के ज्ञान में निष्णात उपाध्याय पद के धारी मुनि संघस्थ साधुओं को श्रुताभ्यास कराते हैं। इनके 11 अंग और 14 पूर्व इस प्रकार 25 मूलगुण होते हैं। विशेष बात यह है कि आचार्य परमेष्ठी एवं उपाध्याय परमेष्ठी, मुनियों के 28 मूलगुणों का पालन करने के साथ ही क्रमशः अपने-अपने 36 व 25 मूलगुणों का पालन भी करते हैं।

2.2 आचार्य परमेष्ठी के मूलगुण-

आचार्यों के 36 मूलगुण होते हैं — 12 तप, 10 धर्म, 5 आचार (पंचाचार), 6 आवश्यक और 3 गुप्ति। इनका विवरण निम्न प्रकार है :-

2.2.1 बारह तप —

'इच्छानिरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना तप है। तप का अर्थ है "तपाना"। जिस प्रकार तपाने से सोने का मैल दूर होकर वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तप करने से आत्मा का कर्मरूपी मैल दूर होकर वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त करती है। इस प्रकार तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। तप द्वारा मनरूपी हाथी पर नियंत्रण रखा जा सकता है। ये तप 12 होते हैं — 6 बाह्य तप और 6 अभ्यन्तर तप।

छहः बाह्य तप — जो तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है और दूसरे को दिखाई दे वह बाह्य तप है। यह छः प्रकार का होता है —

1. अनशन-आन्तरिक बल की वद्धि के लिये अन्न-जल आदि सभी चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन (उपवास) तप है।

2. अवमौदर्य (ऊनोदर)-स्वाभाविक आहार अर्थात् सामान्य भूख से कम मात्रा में भोजन ग्रहण करना अवमौदर्य अथवा ऊनोदर तप है।

3. वृत्तिपरिसंख्यान-आहार हेतु जाते समय साधु का दातार, घर आदि के बारे में संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है। कितने घरों पर जाऊँगा, कितने दातारों से आहार लूंगा, आहार में क्या ग्रहण करूंगा आदि अनेक प्रकार के संकल्प करना इसमें सम्मिलित है।

4. रस परित्याग-भोजन के छः रसों (दूध, दही, घी, तेल, मीठा और नमक) का त्याग करना अथवा इनमें से एक या अधिक रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

5. विविक्त शय्यासन-राग-द्वेष आदि उत्पन्न करने वाले आसन या शय्या का त्याग करके एकान्त स्थान पर जो शय्या और आसन ग्रहण किया जाता है, वह विविक्त शय्यासन तप है।

6. काय क्लेश-शरीर को सुख मिलने की इच्छा का त्याग करना काय-क्लेश है। 22 परीषह (सर्दी, गर्मी आदि बाधाओं) का सहन करना भी इस तप में आता है।

अभ्यन्तर तप (6)-जो तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखता है वह अभ्यन्तर तप है। यह मन का नियमन करने वाला होता है। बाह्य तप की अपेक्षा अभ्यन्तर तप का फल विशेष होता है। यह 6 प्रकार का होता है —

1. प्रायश्चित्त-प्रमादवश मूलगुणों में जो दोष लग जाते हैं, उनके निराकरण हेतु गुरु से जो प्रायश्चित्त ले कर

उपवास आदि किये जाते हैं वह प्रायश्चित्त तप है।

2. विनय-रत्नत्रय धारण करने वालों के प्रति नम्रता व विनय भाव रखना विनय तप है।

3. वैयावृत्त्य-गुणी जनों की जो सेवा-सुश्रूषा की जाती है वह वैयावृत्त्य तप कहलाता है।

4. स्वाध्याय-आत्म हित की भावना से सत्-शास्त्रों का वाचन, पठन, मनन करना, उपदेश करना स्वाध्याय है।

5. व्युत्सर्ग-अहंकार व ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है। शरीर एवं अन्य समस्त वस्तुओं से ममत्व छोड़कर एक मुहूर्त, एक दिन या एक माह आदि अवधि के लिये आत्मस्थ रहना व्युत्सर्ग तप है।

6. ध्यान-चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है।

तप से स्वत: ही ऋद्धियों की प्राप्ति होती है।

संयम व तप में अन्तर-संयम के अन्तर्गत इन्द्रियों व मन पर नियंत्रण तथा छ: काय के जीवों का रक्षण किया जाता है जब कि तप के अन्तर्गत कषायों का शमन किया जाता है, इच्छाओं का दमन किया जाता है। दोनों के द्वारा संवर तथा निर्जरा होती है।

2.2.2 दश धर्म एवं पाँच आचार-

जो जीवों को संसार दु:खों से बचाकर मोक्ष में पहुँचावे, वह धर्म है। यह दस प्रकार का होता है—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

उत्तमक्षमा—शरीर की स्थिति के कारण आहार के लिए जाते हुए मुनि को दुष्टजन गाली देवें, उपहास करें, तिरस्कार करें, मारें-पीटें आदि तो भी मुनि के मन में कलुषता का न आना उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव—जाति आदि मदों के आवेशवश अभिमान न करना।

उत्तम आर्जव—मन, वचन, काय की कुटिलता को न करना।

उत्तम शौच—प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना।

उत्तम सत्य—साधु पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना।

उत्तम संयम—प्राणी की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों का परिहार करना।

उत्तम तप—कर्मक्षय के लिए बारह प्रकार का तप करना।

उत्तम त्याग—संयम के योग्य ज्ञानादि का दान करना।

उत्तम आकिंचन्य—जो शरीर आदि है उनमें भी 'यह मेरा है' ऐसे अभिप्राय का त्याग करना।

उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्रीमात्र का त्याग कर देना अथवा स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ये दश धर्म संवर के कारण माने गये हैं।

पाँच आचार-सम्यग्दर्शन आदि की निर्मलता के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह आचार कहलाता है। यह 5 प्रकार का होता है—

1. दर्शनाचार-नि:शंकित आदि 8 अंग युक्त तथा 25 दोष रहित सम्यग्दर्शन का पालन करना अर्थात् उस के अनुरूप आचरण करना दर्शनाचार है।

2. ज्ञानाचार-आठ अंग (काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय) से युक्त सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना ज्ञानाचार है।

3. चारित्राचार-5 महाव्रत, 5 समिति और 3 गुप्तिरूप 13 प्रकार के चारित्र का निर्दोष पालन करना चारित्राचार है।

4. तपाचार-12 प्रकार के तपों को दोष रहित पालना तपाचार है।

5. वीर्याचार-अपनी शक्ति को न छुपाकर उत्साहपूर्वक उपसर्ग सहते हुए तप आदि करना वीर्याचार है।

2.2.3 छह आवश्यक/तीन गुप्तियाँ-

प्रतिदिन अवश्य करने योग्य क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। ये 6 प्रकार की होती हैं—

1.सामायिक-सभी पर समता भाव रखना अथवा तीनों समय पंच नमस्कार करना सामायिक है। प्रतिदिन तीनों संध्याकालों (प्रातः, अपरान्ह और सायंकाल) में उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठकर न्यूनतम 48 मिनट तक सामायिक की जाती है।

2. स्तवन (स्तुति)-24 तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करना स्तवन (स्तुति) है।

3. वन्दना-किसी एक तीर्थंकर का गुणगान करना वन्दना है।

4. प्रतिक्रमण-अपने द्वारा किये गये दोषों या भूलों के निवारण हेतु प्रायश्चित्त स्वरूप की जाने वाली क्रियाएँ प्रतिक्रमण है। इसमें मन-वचन-काय की शुद्धता के साथ अपनी निंदा की जाती है।

5.प्रत्याख्यान-भविष्य में दोष न होने देने के लिये सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है।

6.कायोत्सर्ग-शरीर से ममत्व छोड़कर आत्म ध्यान में लीन होना कायोत्सर्ग है। यह खड़े होकर या बैठकर किया जाता है।

तीन गुप्ति-तीनों प्रकार के योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना अथवा मन-वचन-काय की स्वच्छन्द प्रवत्ति को रोकना गुप्ति है। संसार के कारण भूत राग आदि से जो रक्षा करे वह गुप्ति कहलाती है। जैसे खेत की रक्षा हेतु बाड़ और नगर की रक्षा हेतु कोट खाई होती है, वैसे ही साधु की पापों से रक्षा हेतु तीन गुप्तियां परम उपाय है। इनका विवरण निम्न प्रकार है-

1. मनोगुप्ति-मन को वश में करना और राग-द्वेष मोह आदि भावों का परिहार करना अर्थात् मन में बुरे संकल्पए विकल्प नहीं आने देना मनोगुप्ति है।

2. वचन गुप्ति-वाणी को वश में करना और आगम के अनुसार वचन बोलना वचन गुप्ति है।

3. काय गुप्ति-अपने शरीर को वश में करना अर्थात् शरीर द्वारा होने वाली पाप क्रियाओं का त्याग करना काय गुप्ति है।

साधुओं के 28 मूलगुणों की पालना आचार्य भी करते हैं।

2.2.4 आचार्य पद का त्याग-

जब आचार्य को ऐसा लगता है कि उनका शरीर शिथिल हो गया है और उनका अन्त सन्निकट है तो वे अपना पद अपने संघ के सुयोग्य शिष्य को सौंप देते हैं व स्वयं संघ में सामान्य मुनि की तरह रहते हैं।

2.3 उपाध्याय परमेष्ठी-

जैन शास्त्रों के परम ज्ञाता होने के कारण जो पठन-पाठन के अधिकारी हैं, जो स्वयं शास्त्रों को पढ़ते हैं और अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। दीक्षा व प्रायश्चित्त आदि क्रियाओं को छोड़कर ये आचार्य के शेष गुणों से परिपूर्ण होते हैं। इन्हें 11 अंग और 14 पूर्वों का ज्ञान होने से ये ही इनके 25 विशेष गुण कहे गये हैं। शेष 28 मूलगुण आदि समान रूप से सभी साधुओं में पाये जाने के कारण सामान्य गुण हैं।

यद्यपि 25 गुणों से युक्त आज एक भी उपाध्याय परमेष्ठी नहीं हैं, फिर भी वे नाम-स्थापना से पूज्य हैं। अतः आचार्य की आज्ञानुसार जो संघ में पढ़ने-पढ़ाने का कार्य करते हैं तथा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित मुनिराज हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

2.4 साधु परमेष्ठी-

जो अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं अथवा तेरह प्रकार का चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में कुशल हैं। प्रमाद रहित आवश्यक क्रियाओं को करने वाले हैं अथवा चौंतिस प्रकार के उत्तर गुणों (बारह तप और बाईस परीषहों को चौंतिस उत्तर गुण कहते हैं।) को पालन करते हैं। अठारह हजार प्रकार शील के धारक, चौरासी लाख उत्तरगुणों के पालक साधु परमेष्ठी होते हैं।

साधुओं के अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन पूर्व में विस्तृत रूप से दिया जा चुका है।

2.5 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-आचार्य परमेष्ठी के कितने मूलगुण होते हैं ?

प्रश्न 2-अभ्यन्तर तप के भेद एवं नाम लिखो ?

प्रश्न 3-ध्यान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-उपाध्याय परमेष्ठी का क्या लक्षण है ?

पाठ-3 – समाचार विधि एवं अन्य

3.1 समाचार विधि-

सम के भाव को समता कहते हैं अर्थात् रागद्वेष का अभाव सो समाचार कहलाता है। अथवा त्रिकाल देववंदना या पंचनमस्काररूप परिणाम समता है या सामायिक व्रत समता है, इस प्रकार के आचार को समाचार कहते हैं। अथवा सम-सम्यक्-निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान आचार सो समाचार है अथवा सभी में पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है, वह समाचार है।

इस समाचार के दो भेद हैं—औघिक और पदविभागिक। सामान्य आचार को औघिक समाचार कहते हैं तथा सूर्योदय से प्रारंभ कर अहोरात्र में जितना आचार मुनियों के द्वारा किया जाता है, उसे पदविभागी समाचार कहते हैं।

3.1.1 औघिक समाचार के दस भेद-

1. **इच्छाकार**—सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना।

2. **मिथ्याकार**—व्रतादि में अतिचारों के होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहकर उनसे दूर होना।

3. **तथाकार**—गुरु के मुख से सूत्रार्थ सुनकर 'यही ठीक है' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

4. **आसिका**—जिनमंदिर, वसतिका आदि से निकलते समय 'असही' शब्द से वहाँ के व्यंतर आदि से पूछ कर जाना।

5. **निषेधिका**—जिनमंदिर, वसतिका आदि में प्रवेश के समय 'निसही' शब्द से वहाँ के व्यंतरादि से पूछकर प्रवेश करना।

6. **आपृच्छा**—गुरु आदिकों से वंदनापूर्वक प्रश्न करना। आहार आदि के लिए जाते समय पूछना।

7. **प्रतिपृच्छा**—किसी बड़े कार्य के समय गुरु आदि से बार-बार पूछना।

8. **छंदन**—उपकरण आदि के ग्रहण करने में या वंदना आदि क्रियाओं में आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति रखना।

9. **सनिमंत्रण**—गुरु आदि से विनयपूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना।

10. **उपसंपत्**—गुरुजनों के लिए 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा आत्मसमर्पण करना।

उपसंपत् के पाँच भेद हैं—विनयोपसंपत्, क्षेत्रोसंपत्, मार्गोपसंपत्, सुखदु:खोपसंपत् और सूत्रोपसंपत्।

1. अन्य संघ से विहार करते हुए आये मुनि को पादोष्ण या अतिथि मुनि कहते हैं। इाका विनय करना, आसन आदि देना, उनका अंग मर्दन करना, प्रियवचन आदि बोलना। आप किस आचार्य के शिष्य हैं ? किस मार्ग से विहार करते हुए आये हैं। ऐसा प्रश्न करना, उन्हें तृण-संस्तर, फलक-संस्तर, पुस्तक, पिच्छिका आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना अथवा उन्हें संघ में स्वीकार करना विनयोपसंपत् है।

2. जिस क्षेत्र या देश में संयम, गुण, शील, यम-नियम आदि वृद्धिंगत होते हैं, उस देश में निवास करना क्षेत्रोपसंपत् है।

3. आगंतुक मुनि से मार्गविषयक कुशल पूछना अर्थात् आप का अमुक तीर्थक्षेत्र या ग्राम को जाकर सुखपूर्वक आगमन हुआ है न ? तथा मार्ग में आपके संयम, तप ज्ञानादि में निर्विघ्नता थी न ? इत्यादि सुखद प्रश्न आपस में पूछना मार्गोपसंपत् है।

4. आपस में वसतिका, आहार, औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुखदु:खोपसंपत् है। अर्थात् जो आगंतुक मुनि आहार, वसतिका आदि से सुखी हैं, उनको शिष्य आदि का लाभ होने पर कमण्डलु आदि दान देना, रोग पीड़ित मुनियों की प्राप्ति होने पर सुख शय्या, आसन, औषधि, अन्न-पानादि के द्वारा उपचार करना और मैं आपका ही हूँ ऐसा बोलना यह सब सुखदु:खोपसंपत् है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए आहार, वसतिका या औषधि का दान कैसे करेंगे? सो योग्य वसतिका में उनकी व्यवस्था कराना, श्रावकों द्वारा आहार, औषधि की व्यवस्था

कराना ही उनके द्वारा शक्य है, सो वे करेंगे ही।

5. सूत्र पठन में प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है। सूत्र के लौकिक, वैदिक और सामयिक की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। गणितादि शास्त्र लौकिक सूत्र हैं, सिद्धांत शास्त्र वेद कहलाते हैं इन संबंधी सूत्र वैदिक सूत्र हैं और तर्कशास्त्र को समय कहते हैं। इन संबंधी शास्त्र सामयिक हैं, ऐसे तीन प्रकार के सूत्र, अर्थ और उभय को प्रयत्नपूर्वक पढ़ना आदि नौ भेदरूप सूत्रोपसंपत् है।

इस प्रकार से औघिक अर्थात् संक्षिप्त या सामान्य समाचार के दश भेद बताये गये हैं।

3.1.2 पदविभागिक समाचार— 'कोई धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणों से सहित मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध शास्त्रों को पढ़कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है, तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार-बार प्रश्न करता है। पुनः दीक्षागुरु और शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनिवरों को लेकर जाता है, क्योंकि सामान्य मुनियों के लिए आगम में एकल विहारी की आज्ञा नहीं है।'

3.2 साधु का एकलविहारी होने का निषेध-

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं। इनके सिवाय तीसरे-विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है।'

जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चारित्र का पालन करते हुए देशांतर में विहार है वह गृहीतार्थ विहार है और जीवादि तत्त्वों को न जानकर चारित्र का पालन करते हुए जो मुनियों का विहार है वह अगृहीतार्थ संश्रित विहार है। जो साधु बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं, द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रंथों के वेत्ता हैं। देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना में तत्पर हैं। वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, धृति-मनोबल से सहित हैं अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं। बहुत दिन के दीक्षित हैं, तपस्या से वृद्ध हैं-अधिक तपस्वी हैं और आचार शास्त्रों के पारंगत हैं, ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है।

'गमनागमन, सोना, उठना, बैठना, कुछ वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना, मलमूत्रादि विसर्जन करना, बोलना, चालना आदि क्रियाओं में स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो, तो भी वह एकाकी विचरण न करे। स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरु की निंदा होती है, श्रुताध्ययन का व्युच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, मूर्खता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आते हैं। एकल विहारी होने से कंटक, ठूँठ आदि का उपद्रव, कुत्ते, बैल आदि पशुओं के और म्लेच्छों के उपसर्ग, विष, हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है। ऋद्धि आदि गौरव से गर्व युक्त, हठग्राही, कपटी, आलसी, लोभी और पापबुद्धियुक्त मुनि संघ में रहते हुए भी शिथिलाचारी होने से अन्य मुनियों के साथ नहीं रहना चाहता है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था-देखादेखी स्वच्छंद विहारी की परम्परा बन जाना, मिथ्यात्व की आराधना, आत्मगुणों का नाश और संयम की विराधना इन पाँच निकाचित दोषों का प्रसंग आता है।''

अन्यत्र भी एकलविहारी का निषेध किया है—

''कोई मुनि अपने गुरु के समीप समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके यदि अन्य मुनियों के संघ में अध्ययन करने की इच्छा हो, तो बार-बार पूछकर गुरु की आज्ञा लेकर अन्य किसी एक या दो अथवा बहुत से मुनियों के साथ विहार करते हैं। (कदाचित् यात्रा, धर्मप्रभावना आदि के निमित्त से भी आजकल इसी तरह कुछ मुनि मिलकर गुरु की आज्ञा लेकर विहार करते हैं) अकेले मुनि विहार नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित हैं, ज्ञान

और संहनन से बलवान हैं तथा भावना से भी बलवान हैं, ऐसे ही मुनि एकलविहारी हो सकते हैं। अन्य साधारण मुनियों के लिए एकाकी विहार की आज्ञा नहीं है। सो ही कहते हैं कि–जिस मुनि में ऊपर कथित ज्ञान, संहनन और अंतःकरण के बल आदि गुण नहीं है और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने में तत्पर हैं, ऐसा मेरा शत्रु भी कभी एकाकी विहार न करे।''

और यदि ऐसा मुनि भी एकाकी विचरण करते हैं, तो क्या दोष आते हैं सो दिखाते हैं—

शास्त्रज्ञान की परम्परा का नाश अवस्था दोष अर्थात् एक की देखादेखी बहुत से साधु ऐसा करने लगेंगे, तो व्यवस्था बिगड़ जावेगी। व्रतों का नाश, आज्ञा भंग—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन और तीर्थधर्म तथा गुरु की अपकीर्ति हो जाती है। इसके सिवाय अग्नि, जल, विष, अजीर्ण, सर्प या क्रूर जनों के द्वारा अथवा आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि के द्वारा अपना विनाश हो जाता है। इत्यादि दोष एकाकी विहार में आ जाते हैं।

3.3 संघ कैसा होना चाहिए ?

जिस संघ में आचार्य—दीक्षा प्रायश्चित्त आदि दायक गुरु, उपाध्याय—अध्यापक, मुनि, प्रवर्तक—सभी साधुओं को चर्या आदि में प्रवृत्ति करने वाले, स्थविर—बल वृद्ध आदि मुनि को सर्वज्ञानुकूल उपदेश देने वाले, गणधर—सर्वसंघ का पालन करने वाले, ऐसे पाँच आधार जिस संघ में रहते हैं, वहीं संघ रहने के लिए योग्य है।

जिस समय ये मुनि अपने संघ से निकलकर अन्य संघ में प्रवेश करते हैं, उस समय उस संघ के सभी मुनि आगन्तुक अतिथि मुनि को देखकर उठकर खड़े होते हैं। आगे जाकर नमोऽस्तु-प्रतिनमोऽस्तु करते हैं। उनका रत्नत्रय आदि कुशल पूछकर मार्ग की थकावट को दूर करने हेतु वैयावृत्ति आहार की व्यवस्था आदि सुविधा देते हैं। तीन दिन तक ये साधु आवश्यक क्रियाओं में आहार आदि क्रियाओं में परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं। दूसरे या तीसरे शिष्यगण आगन्तुक मुनि की चर्या की निर्दोषता आदि के विषय में आचार्यदेव को जानकारी देते हैं। पुनः आगन्तुक मुनि का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा आदि सभी बातें गुरु स्वयं आगंतुक से पूछते हैं। यदि वह मुनि संघ परम्परा से और अपने चारित्र से निर्दोष है, तो उसे स्वीकार करते हैं। आगंतुक मुनि भी तब अपने आने का कारण निवेदन कर गुरु के पास श्रुत अध्ययन प्रारंभ कर देते हैं। ये मुनि इस पर संघ में आचार्य आदि सब साधुओं के साथ ही प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

3.4 आर्यिकाओं की चर्या—

'यहाँ तक जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है, ये ही सब मूलगुण और समाचार विधि आर्यिकाओं के लिए भी है। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग आदि का आर्यिकाओं के लिए निषेध है।''

अन्यत्र भी कहा है—

'जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिए बतलाई है उसी प्रकार लज्जादि-गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिए।''

आर्यिकायें वसतिका में परस्पर में एक-दूसरे के अनुकूल रहती हैं। निर्विकारवस्त्र—देश को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती हैं। रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन बनाना, वस्त्र सीना आदि, गृहस्थोचित कार्य नहीं करती हैं। इनका स्थान साधुओं के निवास से दूर तथा गृहस्थों के स्थान से न अति दूर न अति पास ऐसा रहता है, वहीं पर मलमूत्रादि विसर्जन हेतु एकांत प्रदेश रहता है। ऐसे स्थान में ये दो, तीन या तीस, चालीस आदि तक आर्यिकाएँ निवास करती हैं। ये गृहस्थों के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नहीं जाती हैं।

कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य यदि आ जावे, तब गणिनी की आज्ञा से दो एक आर्यिकाओं के साथ जाती हैं। इनके पास दो साड़ी रहती हैं, किन्तु तीसरा वस्त्र नहीं रख सकती हैं। फिर भी ये लंगोटी मात्रधारी ऐसे ऐलक से भी

पूज्य हैं, चूँकि इनके उपचार से महाव्रत माने गये हैं किन्तु ऐलक के अणुव्रत ही हैं।

यथा—'ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं है। किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रती है।" एक साड़ी पहनना और बैठकर आहार करना इन दो चर्याओं में ही अन्तर है।

इन आर्यिकाओं का नेतृत्व करने वाले आचार्य कैसे होते हैं ?

शिष्यों के संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल, सूत्रार्थ में विशारद यशस्वी, तेरह प्रकार की क्रिया और तेरह प्रकार के चारित्र में तत्पर ऐसे आचार्य होते हैं। जिनके वचन सभी को ग्राह्य और हितकर होते हैं। गंभीर, स्थिरपरिणामी, मितभाषी, अल्पकुतूहली, चिरकाल के दीक्षित, पदार्थों के ज्ञान में कुशल ऐसे आचार्य ही आर्यिकाओं के गणधर होते हैं। इन गुणों से व्यतिरिक्त आचार्य आदि आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं तो गणपोषण, आत्मसंकार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल की विराधना करा देते हैं। अर्थात् संघ की अपकीर्ति संयम की हानि आदि दोष आ जाते हैं।

3.5 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-समाचार किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-समाचार कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 3-आसिका और निषेधिका समाचार का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 4-साधुओं को एकल विहार का निषेध क्यों किया है ?

प्रश्न 5-आर्यिकाओं के महाव्रत होते हैं या अणुव्रत ?

पाठ-4 मुनियों की आहारशुद्धि

दिगम्बर साधु संयम की रक्षा हेतु शरीर की स्थिति के लिए दिन में एक बार छियालीस दोष— चौदह मल दोष और बत्तीस अंतरायों को टाल कर आगम के अनुकूल नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। इसी को पिंडशुद्धि या आहारशुद्धि कहते हैं।

4.1 छ्यालीस दोष-

दिगम्बर मुनि के आहार के छ्यालीस दोष माने हैं। ये साधु इन दोषों से अपने को दूर रखते हैं।

उद्‌गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, अप्रमाण, इंगाल, धूम और कारण, मुख्यरूप से आहार संबंधी ये आठ दोष माने गये हैं।

1. दातार के निमित्त से जो आहार में दोष लगते हैं, वे उद्‌गम दोष कहलाते हैं।
2. साधु के निमित्त से आहार में होने वाले दोष उत्पादन नाम वाले हैं।
3. आहार संबंधी दोष एषणा दोष है।
4. संयोग से होने वाला दोष संयोजना दोष है।
5. प्रमाण से अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है।
6. लंपटता से आहार लेना इंगाल दोष है।
7. निन्दा करके आहार लेना धूम दोष है।
8. विरुद्ध कारणों से आहार लेना कारण दोष है।

इनमें से उद्‌गम के 16, उत्पादन के 16, एषणा के 10 तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम ये 4, ऐसे 16+16+10+4=46 दोष हो जाते हैं।

इन सबसे अतिरिक्त एक अध:कर्म दोष है, जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और बुहारी देना ऐसे पंचसूना नाम के आरंभ से षट्‌कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसके करने वाले साधु उस साधु पद में नहीं माने जाते हैं।

4.1.1 उद्‌गम के 16 भेद-

1. **औद्देशिक**— साधु, पाखंडी आदि के निमित्त से बना हुआ आहार ग्रहण करना उद्देश्य दोष है।
2. **अध्यधि**— आहारार्थ साधुओं को आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना।
3. **पूतिदोष**— प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।
4. **मिश्रदोष**— असंयतों के साथ साधु को आहार देना।
5. **स्थापित**— अपने घर में या अन्यत्र कहीं स्थापित किया हुआ भोजन देना।
6. **बलिदोष**— यक्ष देवता आदि के लिए बने हुए में से अवशिष्ट को देना।
7. **प्रावर्तित**— काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना।
8. **प्राविष्करण**— आहारार्थ साधु के आने पर खिड़की आदि खोलना या बर्तन आदि माँजना।
9. **क्रीत**— उसी समय वस्तु खरीदकर लाकर देना।
10. **प्रामृष्य**— ऋण लेकर आहार बनाना।
11. **परिवर्त**— शालि आदि देकर बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।
12. **अभिघट**— पंक्तिबद्ध सात घर से अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।
13. **उद्‌भिन्न**— भाजन के ढक्कन आदि को खोलकर अर्थात् सील मुहर चपड़ी आदि हटाकर वस्तु निकालकर देना।

14. मालारोहण—निसैनी से चढ़कर वस्तु लाकर देना।

15. आछेद्य—राजा आदि के भय से आहार देना।

16. अनीशार्थ—अप्रधान दातारों से दिया हुआ आहार लेना।

ये सोलह दोष श्रावक के आश्रित होते हैं, ज्ञात होने पर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं।

4.1.2 उत्पादन के 16 भेद-

1. धात्री दोष—धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें, यह मुनि के लिए धात्री दोष है।

2. दूत दोष—दूत के समान किसी का समाचार अन्य ग्रामादि में पहुँचाकर आहार लेना।

3. निमित्त दोष—स्वर, व्यंजन आदि निमित्तज्ञान से श्रावकों को हानि-लाभ बताकर खुश करके आहार लेना।

4. आजीवक दोष—अपनी जाति कुल या कला योग्यता आदि बता कर दातार को अपनी तरफ आकर्षित कर आहार लेना आजीवक दोष है।

5. वनीपक दोष—किसी ने पूछा कि पशु, पक्षी, दीन ब्राह्मण आदि को भोजन देने से पुण्य है या नहीं ? हाँ पुण्य है, ऐसा दातार के अनुकूल वचन बोलकर यदि मुनि आहार लेवें तो वनीपक दोष है।

6. चिकित्सा दोष—औषधि आदि बताकर दातार को खुश कर आहार लेना।

7. क्रोध दोष—क्रोध करके आहार बनवाकर ग्रहण करना।

8. मान दोष—मान करके आहार बनवाकर लेना।

9. माया दोष—कुटिल भाव से आहार बनवाकर लेना।

10. लोभ दोष—लोभाकांक्षा दिखाकर आहार बनवाकर लेना।

11. पूर्वसंस्तुति दोष—पहले दातार की प्रशंसा करके आहार बनवाकर लेना।

12. पश्चात् स्तुतिदोष—आहार के बाद दातार की प्रशंसा करना।

13. विद्या दोष—दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार लेना।

14. मंत्रदोष—मंत्र का माहात्म्य बताकर आहार ग्रहण करना। श्रावकों को शांति आदि के लिए मंत्र देना दोष नहीं है किन्तु आहार के स्वार्थ से बताकर उनसे इच्छित आहार ग्रहण करना सो दोष है।

15. चूर्ण दोष—सुगंधित चूर्ण आदि के प्रयोग बताकर आहार लेना।

16. मूलकर्मदोष—अवश को वश करने आदि के उपाय बताकर आहार लेना।

ये सभी दोष मुनि के आश्रित होते हैं इसलिए ये उत्पादन दोष कहलाते हैं। मुनि इन दोषों से अपने को अलग रखते हैं।

4.1.3 एषणा संबंधी 10 दोष-

1. शंकित—यह आहार अध:कर्म से उत्पन्न हुआ है क्या ? अथवा यह भक्ष्य है या अभक्ष्य ? इत्यादि शंका करके आहार लेना।

2. म्रक्षित—घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने चम्मच आदि से दिया हुआ आहार लेना।

3. निक्षिप्त—सचित्त पृथ्वी, जल आदि से संबंधित आहार लेना।

4. पिहित—प्रासुक या अप्रासुक ऐसे बड़े से ढक्कन आदि को हटा कर दिया हुआ आहार लेना।

5. संव्यवहरण—जल्दी से वस्त्र, पात्रादि खींचकर बिना विचारे या बिना सावधानी के दिया हुआ आहार लेना।

6. दायक—आहार के योग्य, मद्यपायी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त अथवा सूतक-पातक आदि से सहित दातारों से आहार लेना।

7. उन्मिश्र — अप्रासुक वस्तु संमिश्रित आहार लेना।

8. अपरिणत — अग्न्यादि से अपरिपक्व आहार पान आदि लेना।

9. लिप्त — पानी या गीले गेरु आदि से लिप्त ऐसे हाथों से दिया हुआ आहार लेना।

10. छोटित — हाथ की अंजुलि से बहुत कुछ नीचे गिराते हुए आहार लेना।

ये दश दोष मुनियों के भोजन से संबंध रखते हैं। मुनि इन दोषों से अपने को सदैव बचाते रहते हैं।

4.1.4 अन्य चार दोष-

1. संयोजना दोष — आहारादि के पदार्थों का मिश्रण कर देना, ठंढे जल आदि में उष्ण भात आदि मिला देना, अन्य भी प्रकृति विरुद्ध वस्तु का मिश्रण करना, संयोजना दोष है।

2. अप्रमाण दोष — उदर के दो भाग रोटी आदि से पूर्ण करना होता है, एक भाग रस, दूध, पानी आदि से भरना होता है और एक भाग खाली रखना होता है। यह आहार का प्रमाण है, इसका अतिक्रमण करके आहार लेना अप्रमाण दोष है।

3. अंगार दोष — जिह्वा इंद्रिय की लंपटता से भोजन ग्रहण करना।

4. धूमदोष — भोज्य वस्तु आदि की मन में निंदा करते हुए आहार ग्रहण करना।

इस प्रकार से उद्गम के 16 + उत्पादन के 16 + एषणा के 10 + और संयोजना आदि 4, ये सब मिलाकर 46 दोष होते हैं।

जो पहले आठ दोषों में 1 कारण दोष था वह इनसे अलग है। अब उसको बतलाते हैं—

"छह कारणों से आहार ग्रहण करते हुए भी मुनि धर्म का पालन करते हैं और छह कारणों से ही आहार को छोड़ते हुए भी वे मुनि चारित्र का पालन करते हैं।"

4.2 आहार ग्रहण के 6 कारण-

(1) "क्षुधा की वेदना मिटाने के लिए (2) अपनी और अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करने के लिए (3) सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के पालन के लिए (4) संयम पालन के लिए (5) अपने दश प्राणों की चिंता अर्थात् प्राणों की रक्षा के लिए और (6) दश धर्म आदि के चिंतन के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी धर्म का पालन करते हैं।" अर्थात् यदि मैं भोजन नहीं करूँगा, तो क्षुधा वेदना धर्मध्यान को नष्ट कर देगी, स्व अथवा अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करने की शक्ति नहीं रहेगी, सामायिकादि आवश्यक क्रियाएँ निर्विघ्नतया नहीं हो सकेंगी, षट्कायिक जीवों की रक्षारूप संयम नहीं निभेगा, अपने इंद्रिय, बल, आयु प्राणों की रक्षा के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं होगी और आहार के बिना दश धर्मादि का पालन भी कैसे होगा ? यही सोचकर साधु आहार ग्रहण करते हैं।

4.3 आहार त्याग के 6 कारण-

(1) आकस्मिक व्याधि के आ जाने पर (2) भयंकर उपसर्ग के आ जाने पर (3) ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा हेतु (4) जीवन दया हेतु (5) अनशन आदि तप करने के लिए और (6) संन्यास काल के उपस्थित होने पर मुनि आहार का त्याग कर देते हैं।

दिगम्बर मुनि बल और आयु की वृद्धि के लिए, स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि या शरीर के तेज के लिए आहार ग्रहण नहीं करते हैं प्रत्युत ज्ञान की वृद्धि, संयम की वृद्धि और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं।

ये मुनि नवकोटि से विशुद्ध, ब्यालीस दोषों से रहित, संयोजना दोष से शून्य, प्रमाण सहित और विधिवत्-नवधा भक्ति से प्रदत्त, अंगार धूम दोष से भी हीन, छह कारण संयुक्त, क्रम विशुद्ध और प्राणयात्रा या मोक्ष यात्रा के लिए भी साधन मात्र तथा चौदह मल दोषरहित ऐसा आहार ग्रहण करते हैं।

श्रावकों के द्वारा आहार बनाने में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति नहीं करना और कृत, कारित या अनुमोदना भी नहीं

करना, इस प्रकार से मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर 3×3=9 नव भेद हो जाते हैं। नवकोटि से रहित आहार 'नवकोटिविशुद्ध' कहलाता है।

श्री कुंदकुंददेव ने इसी बात को स्पष्ट किया है। यथा—

"उद्गम, उत्पादन और एषणा के 16+16+10=42 भेद होते हैं। संयोजना, अंगार, धूम दोषों से रहित तथा प्रमाण युक्त आहार होना चाहिए। आहार उपर्युक्त छह कारणों से सहित, उत्क्रम से हीन तथा मोक्षयात्रा के लिए साधनमात्र है।"

श्रावकों के श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्त्व शक्ति ये सात गुण हैं तथा पड़गाहन करना, उच्चासन देना, चरण प्रक्षालन करना, पूजा करना, नमस्कार करना, मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय की शुद्धि कहना और आहार की शुद्धि कहना, यह नवधा भक्ति है। इन सप्तगुणसहित, नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया आहार विधिवत् कहलाता है। ऐसे विधिवत् दिये गये आहार को वे मुनि ग्रहण करते हैं तथा चौदह मल दोष रहित आहार लेते हैं।

4.4 चौदह मल दोष-

आहार में नख, बाल, हड्डी, मांस, पीप, रक्त, चर्म, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का कलेवर, कण, कुंड, बीज, कंद, मूल और फल।

इनमें से कोई महामल हैं, कोई अल्पमल हैं, कोई महादोष हैं और कोई अल्पदोष है। रुधिर, मांस, अस्थिर, चर्म और पीप ये महादोष हैं, आहार में इनके दीखने पर आहार छोड़कर प्रायश्चित्त भी लिया जाता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का शरीर—मृतक लट, चिंवटी, मक्खी आदि तथा बाल के आहार में आ जाने पर आहार का त्याग कर दिया जाता है। नख के आ जाने पर आहार छोड़कर गुरु से किंचित् प्रायश्चित्त भी लेना होता है। कण, कुण्ड, बीज, कंद, फल और मूल के आहार में आ जाने पर यदि उनको निकालना शक्य है, तो निकालकर आहार कर सकते हैं अन्यथा आहार का त्याग करना होता है।

सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि अपने शरीर में रक्त, पीप बहने लगे अथवा दातार के शरीर में बहने लगे, तो आहार छोड़ देना होता है। मांस के देखने पर भी उस दिन आहार का त्याग कर दिया जाता है।

द्रव्य से प्रासुक आहार भी यदि मुनि के लिए बनाया गया है, तो वह अशुद्ध है। इसलिए ज्ञात कर ऐसा आहार मुनि नहीं लेते हैं। "जैसे मत्स्य के लिए किये गये मादक जल से मत्स्य ही मदोन्मत्त होते हैं किन्तु मेंढक नहीं, वैसे ही पर के लिए बनाये हुए आहार में प्रवृत्त हुए मुनि उस दोष से आप लिप्त नहीं होते हैं। अर्थात् गृहस्थ अपना कर्तव्य समझकर शुद्ध भोजन बनाकर साधु को आहार देते हैं तब मुनि अपने रत्नत्रय की सिद्धि कर लेते हैं और श्रावक दान के फल स्वर्ग मोक्ष को सिद्ध कर लेते हैं।

यदि आहार शुद्ध है फिर भी यदि साधु अपने लिए बना हुआ समझ कर उसे ग्रहण करता है, तो वह दोषी है और यदि कृत, कारित आदि दोष रहित आहार लेने के इच्छुक साधु को अधःकर्मयुक्त—सदोष भी आहार मिलता है, किन्तु उसे वह साधु बुद्धि से ग्रहण कर रहा है, तो वह साधु शुद्ध है।"

अन्यत्र भी कहा है—यदि मुनि मन, वचन, काय से शुद्ध होकर तथा आलस को छोड़कर शुद्ध आहार को ढूंढ़ता है, तो फिर कहीं पर अधःकर्म होने पर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूँढ़ने से अधःकर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु के कर्मबंध करने वाला नहीं है।"

4.5 आहार का काल-

"सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है। "आहार काल में भी आहार का समय उत्कृष्ट एक मुहूर्त (48 मिनट), मध्यम दो मुहूर्त और जघन्य तीन मुहूर्त प्रमाण तक है।" मध्यान्ह काल में दो घड़ी बाकी रहने पर प्रयत्नपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर, देववंदना करके वे मुनि भिक्षा का समय जानकर पिच्छी,

कमण्डलु लेकर शरीर की स्थिति हेतु आहारार्थ अपने आश्रम से निकलते हैं। मार्ग में संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति का चिंतन करते हुए ईर्यापथ शुद्धि से धीरे-धीरे गमन करते हैं। वे किसी से बात न करते हुए मौनपूर्वक चलते हैं। श्रावक द्वारा पड़गाहन हो जाने पर वे खड़े हो जाते हैं तब श्रावक उन्हें अपने घर ले जाकर नवधाभक्ति करता है। अनंतर मुनि अपने पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर खड़े होकर अपने दोनों करपात्रों को छिद्र रहित बना लेते हैं। अनंतर सिद्धभक्ति करके क्षुधा वेदना को दूर करने के लिए वे प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।

4.6 आहार में पाँच प्रकार की वृत्ति-

''गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, श्वभ्रपूरण, भ्रामरीवृत्ति इन पाँच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं।''

जैसे गाय को घास देने वाली स्त्री चाहे सुन्दर हो या असुन्दर, वह गाय स्त्री की सुन्दरता अथवा वस्त्राभूषणों को न देखकर मात्र अपनी घास पर दृष्टि रखती है। वैसे ही मुनि भी अन्न, रस, स्वादिष्ट व्यंजन आदि की इच्छा न रखते हुए दाता के द्वारा प्रदत्त प्रासुक आहार ग्रहण कर लेते हैं यह गौ के आचरणवत् गोचर या गोचरी वृत्ति कहलाती है।

जैसे कोई वैश्य रत्नों से भरी गाड़ी के पहियों की धुरी में थोड़ी सी चिकनाई (ओंगन) लगाकर अपने इष्ट देश में ले जाता है। वैसे ही मुनिराज भी गुणरत्नों से भरी हुई शरीररूपी गाड़ी को ओंगन के समान थोड़ा सा आहार देकर आत्मा को मोक्षनगर तक पहुँचा देते हैं। इनको अक्षम्रक्षणवृत्ति कहते हैं।

जैसे कोई वैश्य रत्नादि से भरे भांडागार में अग्नि के लग जाने पर शीघ्र ही किसी भी जल से उसे बुझा देता है। वैसे ही साधु भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा हेतु उदर में बढ़ी हुई क्षुधारूपी अग्नि के प्रशमन हेतु सरस वा नीरस कैसा भी आहार ग्रहण कर लेते हैं। इसे उदराग्निप्रशमन वृत्ति कहते हैं।

जैसे कोई गृहस्थ अपने घर के गड्ढे को किसी भी मिट्टी से भर देता है वैसे ही साधु अपने उदर के गर्त को जैसा कुछ अन्न मिल गया, उससे भर देते हैं, मिष्ठ भोजन की इच्छा नहीं करते हैं। यह श्वभ्रपूरणवृत्ति है।

जैसे भ्रमर अपनी नासिका द्वारा कमलगंध को ग्रहण करते समय कमल को किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं पहुँचाता है। वैसे ही मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करते समय उन्हें किंचित् भी पीड़ित नहीं करते हैं। इसको भ्रामरीवृत्ति कहते हैं।

इस प्रकार से आहार ग्रहण करते हुए यदि बत्तीस अंतरायों में से कोई भी अन्तराय आ जाये, तो वह आहार छोड़ देते हैं। जो दाता और पात्र दानों के मध्य में विघ्न आता है, वह अन्तराय कहलाता है।

4.7 बत्तीस अन्तराय-

1. **काक**—आहार को जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि वीट कर देवे, तो काक नाम का अन्तराय है।

2. **अमेध्य**—अपवित्र विष्ठा आदि से पैर लिप्त हो जावे।

3. **छर्दि**—वमन हो जावे।

4. **रोधन**—आहार के जाते समय कोई रोक देवे।

5. **रक्तस्राव**—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुल पर्यंत रुधिर बहता हुआ दीखे।

6. **अश्रुपात**—दुःख से अपने या पर के अश्रु गिरने लगे।

7. **जान्वधः परामर्श**—यदि मुनि जंघा के नीचे के भाग का स्पर्श कर लें।

8. **जानूपरिव्यतिक्रम**—यदि मुनि जंघा के ऊपर का व्यतिक्रम कर लें अर्थात् जंघा से ऊँची सीढ़ी पर—इतनी ऊँची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़ें, तो जानूपरिव्यतिक्रम अंतराय है।

9. नाभ्योनिर्गमन—यदि नाभि से नीचे शिर करके आहारार्थ जाना पड़े।

10. प्रत्याख्यात सेवन—जिस वस्तु का देव या गुरु के पास त्याग किया है, वह खाने में आ जाये।

11. जंतुवध—कोई जीव अपने सामने किसी जीव का वध कर देवे।

12. काकादि पिंडहरण—कौवा आदि हाथ से ग्रास का अपहरण कर लें।

13. ग्रासपतन—आहार करते समय मुनि के हाथ से ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे।

14. पाणौ जंतुवध—आहार करते समय कोई मच्छर, मक्खी आदि जन्तु हाथ में मर जावे।

15. मांसादि दर्शन—मांस, मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेने से अन्तराय है।

16. पादांतर जीव—यदि आहार लेते समय पैर के नीचे से पंचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जाये।

17. देवाद्युपसर्ग—आहार लेते समय, देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि उपसर्ग कर देवें।

18. भाजनसंपात—दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जाये।

19. उच्चार—यदि आहार के समय मल विसर्जित हो जावे।

20. प्रस्रवण—यदि आहार के समय मूत्र विसर्जन हो जावे।

21. अभोज्य गृह प्रवेश—यदि आहार के समय चांडालादि के घर में प्रवेश हो जावे।

22. पतन—आहार करते समय मूर्धा आदि गिर जाने पर।

23. उपवेशन—आहार करते समय बैठ जाने पर।

24. सदंश—कुत्ते, बिल्ली आदि के काट लेने पर।

25. भूमिस्पर्श—सिद्धभक्ति के अनन्तर हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर।

26. निष्ठीवन—आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।

27. वस्तुग्रहण—आहार करते समय हाथ से कुछ वस्तु उठा लेने पर।

28. उदर कृमिनिर्गमन—आहार करते समय उदर से कृमि आदि निकलने पर।

29. अदत्तग्रहण—नहीं दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

30. प्रहार—अपने ऊपर या किसी के ऊपर शत्रु द्वारा शस्त्रादि का प्रहार होने पर।

31. ग्रामदाह—ग्राम आदि में उसी समय आग लग जाने पर।

32. पादेन किंचिद्ग्रहण—पाद से किंचित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

इन उपर्युक्त कारणों से आहार छोड़ देने का नाम ही अन्तराय है। इसी प्रकार से इन बत्तीस के अतिरिक्त चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक-संन्यासपतन, राज्य में किसी प्रधान का मरण आदि प्रसंगों से भी अन्तराय होता है। अन्तराय के अनन्तर साधु आहार छोड़कर मुख शुद्धि कर आ जाते हैं। मन में वे किंचित् भी खेद या विषाद को न करते हुए ''लाभादलाभो वरं'' लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक कर्मनिर्जरा होती है, ऐसा चिंतन करते हुए, वैराग्य भावना को वृद्धिंगत करते रहते हैं।

4.8 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-आहार शुद्धि किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-दिगम्बर मुनि के आहार के 46 दोष कौन से हैं ?

प्रश्न 3-आहार के 14 मल दोष के नाम बताओ ?

प्रश्न 4-आहार में पाँच प्रकार की वृत्ति कौन सी है ?

प्रश्न 5-अन्तराय किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं ?

पाठ-5 आवश्यक क्रिया

5.1 जो पापादि क्रियाओं के वश में नहीं है वह अवश है अथवा जो इन्द्रिय कषाय, नोकषाय और रागद्वेषादि के आधीन नहीं है, वह साधु अवश है उस अवश का जो कार्य अनुष्ठान — आचरण है। वह आवश्यक कहलाता है।

उस आवश्यक के छह भेद होते हैं —

5.1.1 सामायिक-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तपों से जो जीव का ऐक्य होना है, वह समय है। उसी को सामायिक कहते हैं। अर्थात् इन क्रियाओं से परिणत आत्मा ही सामायिक है। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा 6 भेद हो जाते हैं। वस्तु के शुभ अशुभ नाम सुन कर रागद्वेष नहीं करना नाम सामायिक है। शुभाकार युक्त और अशुभाकार युक्त प्रतिमाओं में रागद्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। सोना, चाँदी या मिट्टी आदि में रागद्वेष नहीं करना द्रव्य सामायिक है। रम्य सुन्दर क्षेत्रों में और असुन्दर अप्रिय क्षेत्रों में समताभाव रखना क्षेत्र सामायिक है। ग्रीष्म-शीतादि ऋतुओं और भी अनुकूल-प्रतिकूल समयों में रागद्वेष नहीं करना काल सामायिक है तथा सम्पूर्ण इष्ट-अनिष्ट विषयों में रागद्वेष का त्याग करके समताभाव धारण करना ही भाव सामायिक है क्योंकि 'सर्वसावद्ययोग' से निवृत्त होकर कर्मास्रव के कारणभूत पापयोग से दूर होना ही सामायिक का लक्षण है। "अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने शिष्यों को सामायिक संयम का उपदेश दिया था।

भगवान् वृषभदेव और महावीर प्रभु ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है। कथन करने में पृथक्-पृथक् भावित करने में और समझने में सुगमता हो इसलिए पाँच महाव्रतों का वर्णन किया है। आदिनाथ के तीर्थ में शिष्यों को समझना कठिन था, क्योंकि वे अधिक सरल स्वभावी — जड़ थे और महावीर जिनके तीर्थ में शिष्यों को व्रत का पालन कराना कठिन रहा है क्योंकि ये अधिक वक्र स्वभावी हैं। दोनों तीर्थों के शिष्य योग्य और अयोग्य को नहीं जानते थे, यही कारण है कि उनकी "सर्वसावद्ययोगाद्विरतोऽस्मि" मैं सभी सावद्ययोग से विरक्त हूँ, इतने मात्र से सामायिक संयम को स्वीकार मोक्षमार्ग में स्थित होना कठिन था, इसी हेतु से वृषभदेव और वीर, प्रभु ने व्रतों के भेदरूप छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।" यह समताभाव लक्षण सामायिक अनियत काल है। अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिए है और "त्रिकालदेववंदना" करने रूप सामायिक नियतकालरूप है।"

"अनाकुल चित्त हुए साधु हाथ में पिच्छिका लेकर अंजुलि जोड़कर एकाग्रमना होकर सामायिक करते हैं।"

5.1.2 चतुर्विंशतिस्तव-

लोक में उद्योत करने वाले अरिहंत जिनेश्वरदेव धर्मतीर्थ के कर्ता होने से धर्मतीर्थंकर हैं उनके गुणों का स्तवन करना स्तव आवश्यक है। तीर्थ के द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ ऐसे दो भेद हैं — द्रव्य तीर्थ, गंगादि नदी में स्नान करने से संताप (शरीरताप) का नाश, तृष्णा की उपशांति और किंचित् काल के लिए शरीर के मल का अभाव होता हैद्ध किन्तु रत्नत्रय से परिपूर्ण हुए तीर्थंकर भावतीर्थ हैं अथवा उनका रत्नत्रय धर्म भी भावतीर्थ है, द्वादशांग श्रुतज्ञान भी भावतीर्थ है। इस तीर्थ में अवगाहन करने से सम्पूर्ण कर्ममल का नाश होता है।

"भिन्न-भिन्न 1008 आदि नामों से स्तुति करना नामस्तव है। कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिमाओं की स्तुति करना स्थापनास्तव है, जिनेन्द्र भगवान के शरीर का वर्ण, ऊँचाई, आयु, उनके माता-पिता आदि के वर्णनपूर्वक स्तुति करना द्रव्यस्तव है। चम्पापुरी, पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि क्षेत्रों की स्तुति करना क्षेत्रस्तव है। गर्भावतार जन्मदिवस आदि के दिनों में स्तुति करना काल स्तव है और जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।"

"इन अर्हंत आदि के तरफ अभिमुख होने से भक्ति से सम्पूर्ण अभीप्सित सिद्ध हो जाते हैं इसलिए यह भक्तिरागपूर्वक होती है यह निदान नहीं है। दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर प्रतिलेखन करके अंजुली जोड़कर अविक्षिप्त मन हुए साधु चतुर्विंशतिस्तोत्र को करते हैं।

5.1.3 वंदना—एक तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्यादि की वंदना करना विधिवत् भक्तिपाठपूर्वक कृतिकर्म करना **वंदना आवश्यक** है। एक तीर्थंकर या सिद्ध आदि का नाम लेना वंदना है।'' तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्यादि के प्रतिबिम्बों की स्तुति करना स्थापना वंदना है। एक तीर्थंकर, सिद्ध या आचार्यादि के शरीर की स्तुति करना द्रव्य वंदना है। एक तीर्थंकर, सिद्ध या आचार्यादि ने जिस स्थान में निवास किया है, उस क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र वंदना है। एक तीर्थंकर तथा सिद्ध आचार्यादि जिस काल में हुए हैं, उस काल की स्तुति करना काल वंदना है। एक तीर्थंकर, सिद्धाचार्यादि के गुणों की स्तुति करना भाव वंदना है।

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वंदना के ही नामांतर हैं।

''जिन अक्षर समूह से, परिणामों से, या क्रियाओं से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है, छेदा जाता है वह कृतिकर्म है अर्थात् पापनाश के उपाय को कृतिकर्म कहते हैं। जिससे तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का संयम होता है, उसको चितिकर्म कहते हैं। जिसके द्वारा अर्हंत आदि पूजे जाते हैं, ऐसे बहुवचन से उच्चारण कर पुष्पमाला, चंदन आदि जो अर्पण किये जाते हैं, वह पूजाकर्म है, जिससे कर्म दूर किया जाता है, अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि रूप परिणमन करा दिया जाता है, ऐसे कार्य को विनयकर्म कहते हैं, उसका ही नाम शुश्रूषा है।''

अहोरात्रि के कृतिकर्म-

''चार प्रतिक्रमण के और तीन स्वाध्याय के ऐसे पूर्वान्ह के सात कृतिकर्म और अपरान्ह के सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं।'' अथवा पश्चिमरात्रि में प्रतिक्रमण के चार, स्वाध्याय के तीन और वंदना के दो, सूर्य उदय होने पर स्वाध्याय के तीन और मध्यान्ह वंदना के दो इस प्रकार पूर्वान्ह क्रियाकर्म के ये चौदह हुए, उसी प्रकार अपरान्ह काल में स्वाध्याय के तीन, प्रतिक्रमण के चार, वंदना के दो, रात्रियोग ग्रहण, विसर्जन में योगभक्ति के दो और पूर्व रात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपरान्हिक क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्र के कुल मिलाकर अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं।''

अन्यत्र भी कहा है—''चार बार के स्वाध्याय के 12, त्रिकाल वंदना के 6, दो बार के प्रतिक्रमण के 8 और रात्रियोग ग्रहण-विसर्जन में योगभक्ति के 2, ऐसे 28 कायोत्सर्ग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं।'' इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

त्रिकाल देववंदना में चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति संबंधी दो-दो 2×3=6, दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण में, सिद्ध, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरणवीर और चतुर्विंशति-तीर्थंकर इन चार भक्ति संबंधी चार-चार 4×2=8, पूर्वान्ह, अपरान्ह, पूर्व-रात्रिक और अपररात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय में—स्वाध्याय के प्रारंभ में श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति एवं समाप्ति में श्रुतभक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति संबंधी 4×3=12, रात्रियोग प्रतिष्ठापन में योगभक्ति संबंधी एक और निष्ठापन में एक ऐसे 2, इस तरह सब मिलकर 6+8+12+2=28 कायोत्सर्ग किये जाते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण-

''सामायिक दण्डकपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि है, उसे कृतिकर्म कहते हैं।'' ''यथाजात-मुद्राधारी साधु मन-वचन-काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करे[1]।'' अर्थात् किसी भी क्रिया के प्रयोग में पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्शरूप पंचाङ्ग नमस्कार किया जाता है, जैसे—''**अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्यायप्रारंभक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं**'' ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है पुनः ''णमो अरिहंताणं से लेकर तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि'' तक पाठ बोला जाता है इसे सामायिक दण्डक कहते हैं। इसमें ''णमो अरिहंताणं'' पाठ प्रारंभ करते समय तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है पुनः पाठ पूरा करके तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है। फिर कायोत्सर्ग करके पंचांग प्रणाम किया जाता है पुनः 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशति स्तव के

प्रारंभ में तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनन्तर प्रणाम ऐसे दो प्रणाम हुए। सामायिक दण्डक के आदि, अंत में और थोस्सामि के आदि, अन्त में ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुए तथा प्रत्येक में एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति हो गई।

इस कृतिकर्म — विधिवत् कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष माने गये हैं। उनसे रहित होना चाहिए।

कृतिकर्म कब करें?

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करते हैं। अविरती श्रावक, माता-पिता, असंयत गुरु, राजा, पाखंडी साधु, देशव्रती अथवा नाग, यक्ष आदि देवों की वंदना महाव्रती साधु नहीं करते हैं तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के चारित्र शिथिल मुनि की भी वंदना नहीं करते हैं। किन्तु वे साधु रत्नत्रय से युक्त, अपने दीक्षा में एकरात्रि भी बड़े ऐसे मुनियों की भी वंदना करते हैं। विक्षिप्त चित्त हुए अथवा पीठ करके बैठे हुए, आहार या नीहार करते हुए गुरुओं को मुनि वंदना नहीं करते हैं। आसन में स्थित, स्वस्थचित्त ऐसे गुरु की वंदना करते हैं। आलोचना के समय, सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के पूर्व में, पूजनकाल में, स्वाध्याय के समय, क्रोधादि अपराध काल में, आचार्यादि की वंदना के समय इतने स्थानों में गुरु की वंदना की जाती है। जब मुनि वंदना करते हैं तब अन्य आचार्यादि साधु भी बड़े प्रेम से उन्हें पिच्छिका लेकर प्रतिवंदना करते हैं। वंदना करते समय गुरु से अनुज्ञा लेकर — 'हे भगवन्! मैं वंदना करता हूँ' ऐसी प्रार्थना करके पुनः स्वीकृति प्राप्त कर विधिवत् वंदना करते हैं।' सभी क्रियाओं के आरंभ में, मार्गादि में देखने पर, सर्वत्र साधु-साधुओं में वंदना प्रतिवंदना करते हैं।'

'देव, वंदना में भी पूर्वोक्त विधि से कृतिकर्म करके ''जयतु भगवान्'' इत्यादि चैत्यभक्ति का पाठ करते हुए साधु देववंदना विधि करते हैं।'

देववंदना में योग्यकाल, योग्य आसन आदि को भी समझना चाहिए।

''साधु समाधि के लिए सहकारी कारणभूत ऐसे योग्य काल, योग्य आसन, योग्य मुद्रा, आवर्त और शिरोनतिरूप निर्दोष बत्तीस दोष रहित कृतिकर्म को विनयपूर्वक करते हैं।'' देववंदना के लिए इन सभी को कहते हैं —

योग्यकाल — पिछली रात्रि की तीन घड़ी और दिन के आदि को तीन घड़ी ऐसे छह घड़ी (2 घंटे 24 मिनट) काल पूर्वान्ह वंदना का है। मध्यान्ह से पहले की तीन घड़ी और पीछे की तीन घड़ी ऐसा छह घड़ी काल मध्यान्ह वंदना का है। दिन के अंत की तीन घड़ी और रात्रि के आदि की तीन घड़ी, ऐसा छह घड़ी काल अपरान्ह वंदना का है। यह उत्कृष्टकाल है। ऐसे ही चार-चार घड़ी का काल मध्यमकाल है तथा दो-दो घड़ी का काल जघन्यकाल है। इस प्रकार तीनों संध्याओं में देववंदना के लिए योग्यकाल है।

योग्य आसन — वंदना करने के लिए साधु जहाँ बैठते हैं, वह प्रदेश, पाटा-सिंहासन या पद्मासन आदि योग्य आसन हैं। शुद्ध, एकांत, प्रासुक, अप्रशस्त लोक और सम्मूर्च्छन आदि जन्तुओं से रहित, क्लेश के कारणभूत परिषह-उपसर्ग आदि से रहित होवे तथा तीर्थंकर आदि के निर्वाणकल्याणक आदि कल्याणकों से पवित्र प्रदेश ही उत्तम प्रदेश माना गया है। जिस पाटा, चटाई या तृण आदि पर बैठकर वंदना करनी है, वह आसन छिद्र रहित, घुण, खटमल आदि से रहित, कालादि से रहित, निश्चल और सुखकर स्पर्श वाला होवे। उस पर साधु पद्मासन, पर्यंकासन या वीरासन से बैठकर सामायिक करते हैं। दोनों पैर जंघाओं से मिल जाये, उसको पद्मासन कहते हैं। एक जंघा के ऊपर दूसरी जंघा के रखने से जो आकार होता है, वह पर्यंकासन है तथा दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के रखने को वीरासन कहते हैं।

वंदना करने वाला मुनि खड़े होकर या बैठकर वंदना करता है अतः यह स्थान दो भेदरूप है।

योग्यमुद्रा—

मुद्रा के चार भेद हैं—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वंदनामुद्रा और मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

दोनों भुजाओं को लटकाकर दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर कायोत्सर्ग से खड़े हो जाना जिनमुद्रा है। पद्मासन आदि दोनों हथेली को चित्त रखकर बैठने पर योगमुद्रा होती है।

खड़े होकर दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखने पर और दोनों करों को मुकुलित कमल के आकार बनाने पर वंदना मुद्रा होती है। इसी तरह खड़े होकर कुहनियों को पेट के ऊपर रखकर दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में संलग्न कर लेने पर मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है।

किस क्रिया में किस मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए ?

''जयतु भगवान् हेमाम्भोज..........'' इत्यादि वंदना के समय वंदना होती है। 'णमो अरिहंताणं' आदि सामायिक दंडक और 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव के समय मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है। बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा मानी गई है।

आवर्त—''सामायिकदण्डक उच्चारण के पहले वन्दना मुद्रा से हाथों को मुकुलित बनाकर घुमाने से तीन आवर्त हुए, ऐसे ही दंडक के बाद तीन आवर्त पुन: थोस्सामिस्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त इस प्रकार एक कायोत्सर्ग में बारह आवर्त होते हैं।''

शिरोनति—तीन-तीन आवर्तों के अनन्तर मुकुलित हाथों से संयुक्त मस्तक का झुकाना शिरोनति है। यह सामायिक दण्डक के आदि, अंत और थोस्सामि स्तव के आदि, अंत ऐसे चार बार होने से चार शिरोनति हो जाती है।

देववंदना में चैत्यभक्ति बोलते हुए जिनेन्द्रदेव की प्रदक्षिणा भी की जाती है। उसमें प्रत्येक प्रदक्षिणा में पूर्वादि चारों दिशाओं की तरफ प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार एक प्रदक्षिणा में बारह आवर्त, चार शिरोनति तथा तीन प्रदक्षिणा में छत्तीस आवर्त और बारह शिरोनति हो जाती है, सो अधिक आवर्त और शिरोनति में कोई दोष नहीं होता है।

चैत्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति करते समय चैत्यालय की प्रदक्षिणा भी की जाती है तथा योगियों की वंदना में योगभक्ति पढ़ते समय प्रदक्षिणा दी जाती है।

इस प्रकार से संक्षेप में वंदना आवश्यक का कथन हुआ है।

वंदना के 32 दोष-

1. **अनादृत—**वंदना में आदर भाव नहीं रखना।
2. **स्तब्ध—**आठ प्रकार के मद में से किसी के वश हो जाना।
3. **प्रविष्ट—**अर्हंतादि के अत्यन्त निकट होकर वंदना करना।
4. **परिपीडित—**अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं या घुटनों का स्पर्श करना।
5. **दोलायित—**झूला पर बैठे हुए के समान अर्थात् हिलते हुए वंदना करना।
6. **अंकुशित—**अपने ललाट पर अपने हाथ के अंगुष्ठ को अंकुश की तरह रखना।
7. **कच्छपरिंगित—**बैठकर वंदना करते हुए कछुये के समान रेंगने की क्रिया करना।
8. **मत्स्योद्वर्त—**जिस प्रकार मछली एक भाग को ऊपर करके उछला करती है, उसी प्रकार कटिभाग को ऊपर निकालकर वंदना करना।
9. **मनोदुष्ट—**मन में गुरु आदि के प्रति द्वेष धारण कर वंदना करना अथवा संक्लेशयुक्त मन सहित वंदना करना।
10. **वेदिकाबद्ध—**अपने स्तन भागों का मर्दन करते हुए वंदना करना या दोनों भुजाओं द्वारा अपने दोनों घुटनों

को बाँध लेना।

11. भयदोष—सात प्रकार के भय से डरकर वंदना करना।

12. विभ्यद्दोष—गुरु आदि से डरते हुए वंदना करना।

13. ऋद्धिगौरव—चातुर्वर्ण्य संघ में भक्त हो जावेगा, इस अभिप्राय से वंदना करना।

14. गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि द्वारा प्रगट करके अथवा सरस भोजन आदि की स्पृहा रखकर वंदना करना।

15. स्तेनित—आचार्य आदि से छिपाकर वंदना करना या कोठरी आदि के भीतर छिपकर वंदना करना।

16. प्रतिनीत—देव, गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वंदना करना।

17. प्रदुष्ट—अन्य के साथ द्वेष, वैर, कलह आदि करके पुनः क्षमा न कराकर वंदनादि क्रिया करना।

18. तर्जित—अन्यों को तर्जित कर, डर दिखाकर वंदना करना अथवा आचार्यादि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित—अनुशासित किये जाने पर "यदि वन्दनादि नहीं करोगे, तो संघ से निकाल दूँगा" ऐसी फटकार सुनकर वंदना करना।

19. शब्ददोष—शब्द बोलते हुए वंदना करना। अथवा "वंदना करते समय बीच में बातचीत करते जाना।"

20. हीलित—वचनों द्वारा आचार्यादि का पराभव करके वंदना करना।

21. त्रिवलित—वंदना करते समय कमर, गर्दन और हृदय इन अंगों में भंग—बलि पड़ जाना या ललाट में तीन सल डाल कर वंदना करना।

22. कुंचित—संकुचित हाथों से सिर का स्पर्श करना या घुटनों के बीच शिर रखकर संकुचित होकर वंदना करना।

23. दृष्ट—आचार्यादि यदि देख रहे हों तो ठीक से वंदनादि करना अन्यथा स्वेच्छा से दिशावलोकन करते हुए वंदना करना।

24. अदृष्ट—आचार्यादि न देख सकें, ऐसे स्थान पर जाकर अथवा भूमि, शरीरादि का पिच्छी से परिमार्जन न कर वंदना में एकाग्रता न रखते हुए वंदना करना या आचार्यादि के पीछे जाकर वंदना करना।

25. संघकरमोचन—यदि मैं संघ को वंदनारूपी कर भाग नहीं दूँगा, तो संघ मेरे ऊपर रुष्ट होगा, ऐसे भाव से वंदना करना।

26. आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके वंदना करना।

27. अनालब्ध—उपकरण आदि की आशा से वंदना करना।

28. हीन—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित वंदना करना।

29. उत्तर चूलिका—वंदना को थोड़े काल में पूर्णकर उसकी चूलिकारूप आलोचनादि पाठ को अधिक समय तक करना।

30. मूकदोष—गूँगे के समान वंदना के पाठ को मुख के भीतर ही बोलना अथवा वंदना करते समय हुँकार अंगुली आदि से इशारा करना।

31. दर्दुर—वंदना के पाठ को इतनी जोर से बोलते हुए महाकलकल ध्वनि करना कि जिससे दूसरों की ध्वनि दब जाये।

32. चुरुलित—एक ही स्थान में खड़े होकर हस्तांजलि को घुमाकर सबकी वंदना करना अथवा पंचम आदि स्वर से गा-गाकर वंदना करना।

इए प्रकार वंदना के 32 दोष हैं। इन दोषों से रहित वंदना ही शुद्ध वंदना है जो कि विपुल निर्जरा का कारण है। इन 32 दोषों में से किसी एक दोष को करता हुआ भी साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्म से निर्जरा को करने वाला नहीं होता है। एक हाथ के अन्तराल से, अपने शरीरादि के स्पर्श से देव का स्पर्श या गुरु को बाधा न करते हुए अपने अंगादि

का पिच्छिका से प्रमार्जन करके साधु वंदना की प्रार्थना करके वंदना करता है अर्थात् मैं वंदना करता हूँ, ऐसी विज्ञापना करके यदि गुरु की वंदना करना है, तो उनकी स्वीकृति लेकर वंदना करता है।''

5.1.4 प्रतिक्रमण-

प्रमाद आदि से उत्पन्न होने वाले दोषों का विशोधन करना प्रतिक्रमण है। इसके नाम आदि की अपेक्षा छह भेद हैं। पाप हेतुक नाम से दूर होना अथवा प्रतिक्रमण दण्डक के शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। सरागस्थापना से अपने परिणाम हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य द्रव्य के सेवन से परिणाम हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है। क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचार से निवृत्त होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। काल के आश्रय से होने वाले अतिचार हटाना काल प्रतिक्रमण है। राग-द्वेषादि दोषों से होने वाले अतिचारों से अपने को हटाना भाव प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ।

दिवस संबंधी दोषों के विशोधन हेतु सायंकाल में जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह दैवसिक प्रतिक्रमण है। जो कि ''जीवे प्रमादजनिता:'' आदि पाठरूप से पढ़ा जाता है।

रात्रि संबंधी दोषों के निराकरण हेतु जो पश्चिम रात्रि में प्रतिक्रमण किया जाता है, वह रात्रिक प्रतिक्रमण है।

आहार के लिए जाते समय, गुरुवंदना और देववंदना के लिए जाते समय, शौचादि के लिए जाते समय जो जीवों की विराधना हुई हो, उसके दोषों को दूर करने के लिए ''पडिक्कमामि भंत्ते! इरियावहियाए'' इत्यादि पाठ बोलकर महामंत्र का नव बार जाप्य किया जाता है, वह ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन वा चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को जो बृहत्प्रतिक्रमण किया जाता है, वह पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

''कार्तिक मास के अन्त में और फाल्गुन मास के अन्त में चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है।''

''आषाढ़ मास के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है।''

मरणकाल में सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करके जो यावज्जीवन चतुराहार का त्याग कर दिया जाता है। वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

इनसे लोच प्रतिक्रमण, गोचरी प्रतिक्रमण, अतिचार प्रतिक्रमण आदि लघु प्रतिक्रमण होते हैं, जो कि ईर्यापथ आदि में सम्मिलित हो जाते हैं।

पाँच वर्ष के अन्त में जो गुरु के सान्निध्य में बड़ा प्रतिक्रमण होता है, वह यौगिक या योगांतिक कहलाता है। तथाहि—

''प्रतिक्रमण के भेदों में बृहत्प्रतिक्रमण सात माने हैं—व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिकांतचातुर्मासिक, फाल्गुनांतचातुर्मासिक, आषाढांतसांवत्सरिक, सार्वातिचारिक और औत्तमार्थिक।'' दीक्षाग्रहण काल से लेकर संन्यासग्रहण काल तक जितने भी दोष होते हैं, वे सार्वातिचार कहलाते हैं। उनका प्रतिक्रमण सार्वातिचारी प्रतिक्रमण है। व्रतों के आरोपण के समय जो आचार्य द्वारा प्रतिक्रमण सुनाया जाता है, वह व्रतारोपणी प्रतिक्रमण है। इनमें से व्रतारोपणी और सार्वातिचारी प्रतिक्रमण ये दोनों उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में गर्भित हो जाते हैं।

इनसे अतिरिक्त भी जो अतिचारी प्रतिक्रमण है, वह सार्वातिचारी में और जो त्रिविधाहारव्युत्सर्जन प्रतिक्रमण उत्तमार्थ में शामिल हो जाते हैं। पाँच वर्ष के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण यौगांतिक प्रतिक्रमण है वह संवत्सर प्रतिक्रमण में गर्भित हो जाता है।

''ऐसे ही लुंचन, रात्रिक, दैवसिक, गोचार, निषिद्धिका गमन, ईर्यापथ और अतिचार ये सात लघु प्रतिक्रमण माने गये हैं।''

केशलोचसंबंधी लोचप्रतिक्रमण है, निषिद्धिका (जहाँ गुरुओं की समाधि हुई है या तीर्थंकरों की कल्याणभूमि) के लिए गमन संबंधी प्रतिक्रमण निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण है। आहारसंबंधी प्रतिक्रमण गोचार प्रतिक्रमण है और दुःस्वप्न आदि अतिचार संबंधी प्रतिक्रमण अतिचार प्रतिक्रमण है, मार्ग में गमन संबंधी प्रतिक्रमण ईर्यापथिक है, दिवस संबंधी प्रतिक्रमण दैवसिक और रात्रि संबंधी रात्रिक है। इनमें से निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण ऐर्यापथिक में, अतिचार प्रतिक्रमण रात्रिक प्रतिक्रमण में और लोचप्रतिक्रमण तथा गोचार प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण में अंतर्भूत हो जाते हैं।

भगवान् आदिनाथ और महावीर प्रभु ने 'अपराध हों चाहे न हों' शिष्यों को यथासमय प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। किन्तु अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने को कहा है। प्रथम और अंतिम जिनेश्वर ने एक दोष होने पर भी सभी प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करना कहा है। क्योंकि इनके समय के शिष्यों का चित्त चंचल होने से अन्धकघोटक न्याय से उन्हें सभी प्रतिक्रमण यथासमय करना ही होता है।

जैसे — एक घोड़े की आँख की ज्योति नष्ट हो गई। एक वैद्य के यहाँ आँख ठीक करने की दवाई तो थी किन्तु उसे पता नहीं था कि कौन सी दवा है। उसने कहा कि आप इस घोड़े की आँख में सभी दवाई प्रयोग करते चलिए जो आँख खुलने की होगी, उससे आँख खुल जायेगी। घोड़े के स्वामी ने ऐसा ही किया, तब जब आँख की औषधि का क्रम आ गया, तब एकदम औषधि लगते ही आँख खुल गई, इसे अन्धघोटक न्याय कहते हैं। इसी प्रकार साधु सभी दण्डकों का उच्चारण करते हैं जिस किसी एक पर भी मन स्थिर हो जाने से दोषों का विनाश हो जाता है।

मध्यम तीर्थंकरों के शासन के शिष्य दृढ़बुद्धि वाले, स्मरण शक्ति से सहित, एकाग्रचित्त वाले होते हैं, किन्तु आदि और अंतिम तीर्थंकर के शासन के शिष्य चंचल मन वाले, मोह से सहित ऋजुजड़मति वाले और वक्रजड़मति वाले होते हैं। यही कारण है कि आज सभी प्रतिक्रमण करना जरूरी है।''

साधु दोष लगने पर विनयपूर्वक पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर गारव, मान आदि दोषों को छोड़कर कृतिकर्म करके गुरु के पास आलोचना करते हैं और 'मिच्छा मे दुक्कडं' आदि दण्डकों का उच्चारण कर प्रतिक्रमण करते हैं।

5.1.5 प्रत्याख्यान-

भविष्यत् और वर्तमान के दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है। इसके भी छह भेद हैं — पाप के उत्पन्न करने वाले अयोग्य नाम नहीं रखना, नहीं रखवाना और न अनुमोदना करना नाम प्रत्याख्यान है। मिथ्या देवता आदि के प्रतिबिम्ब की स्थापना नहीं करना स्थापना प्रत्याख्यान है। सावद्य अथवा निरवद्यद्रव्य का त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। जहाँ रहने से असंयमादि उत्पन्न हों, ऐसे क्षेत्र का त्याग करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असंयमोत्पादक काल का त्याग करना काल प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि भावों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?

भूतकाल के अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और वर्तमान तथा भविष्य के दोषों का त्यागना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रतादि के अतिचारों का त्यागना प्रतिक्रमण है और अतिचार के कारण जो सचित्त, अचित्त और मिश्रपदार्थ इनका तप के लिए त्यागना अथवा प्रासुक द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान के दश भेद-

अनागत — भविष्यत् काल में किये जाने वाले उपवास आदि अनागत हैं, जैसे चतुर्दशी के दिन किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को कर लेना, यह अनागत प्रत्याख्यान है।

अतिक्रांत — चतुर्दशी आदि में किये जाने वाले उपवासादि को प्रतिपदा आदि में करना यह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

कोटिसहित — कल दिन में स्वाध्याय के अनन्तर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प करके जो प्रत्याख्यान होता है, वह कोटिसहित प्रत्याख्यान है।

निखंडित— पाक्षिक आदि में अवश्य करने योग्य उपवासादि करना निखंडित प्रत्याख्यान है।

साकार— सर्वतोभद्र, कनकावली, आदि उपवासों को करना यह भेद सहित होने से साकार प्रत्याख्यान है।

अनाकार— स्वेच्छा से नक्षत्रादि कारणों के बिना उपवासादि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

परिमाणगत— कालप्रमाण सहित उपवास करना, जैसे—षष्ठ—बेला, अष्टम-बेला आदि उपवास करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

अपरिशेष— यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

अध्वानगत— मार्गविषयक त्याग—जैसे इस जंगल में निकलने तक या यह नदी पार करने तक आहार का त्याग करना अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

सहेतुक— उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना यह सहेतुकप्रत्याख्यान है।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से आहार चार प्रकार का है। प्रतिदिन आहार के अनन्तर जो अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग किया जाता है। वह भी प्रत्याख्यान कहलाता है।

5.1.6 कायोत्सर्ग-

काय से ममत्त्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इसके भी नामादि की अपेक्षा छह भेद हैं—तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त नाम से आये हुए दोषों का परिहार करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह नाम कायोत्सर्ग है। पाप स्थापना के द्वारा आये हुए अतिचार को दूर करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग स्थापना कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए दोष के नाशार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य कायोत्सर्ग है। पापयुक्त क्षेत्र के सेवन से हुए दोष के नाशार्थ जो कायोत्सर्ग है वह क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण से प्राप्त हुए दोष परिहारार्थ कायोत्सर्ग करना काल कायोत्सर्ग और मिथ्यात्व आदि दोषों के दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है, वह भाव कायोत्सर्ग है।

दोनों हाथ लटकाकर जिनमुद्रा से निश्चल होकर शुभध्यान में स्थिर होना कायोत्सर्ग है।

''कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। मध्यम कायोत्सर्ग के एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक वर्ष के मध्य, गत अनेकों भेद हो जाते हैं।'' एक बार णमोकार मंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं। यथा—'णमो अरिहंताणं' पद बोलकर श्वास ऊपर खींचना और 'णमो सिद्धाणं' पद बोलकर श्वास नीचे छोड़ना, ऐसा एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही 'णमो आइरियाणं' और 'णमो उवज्झायाणं' में एक श्वासोच्छ्वास तथा 'णमो लोए' और 'सव्व साहूणं' इस पद में एक श्वासोच्छ्वास, ये तीन स्वासोच्छ्वास हो जाते हैं। आगे कायोत्सर्ग का प्रमाण बतलाने में आचार्य स्वासोच्छ्वासों से गणना बताते हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 108 स्वासोच्छ्वास होते हैं। अर्थात् वीरभक्ति के प्रारंभ में 36 बार णमोकार मंत्र जपने में 108 स्वासोच्छ्वास हो जाते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 54 स्वासोच्छ्वास (18 बार णमोकार जाप्य), पाक्षिक, प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 300 स्वासोच्छ्वास, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 400 स्वासोच्छ्वास तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 500 श्वासोच्छ्वासों में महामंत्र का ध्यान होता है।

पाँच महाव्रतों में से किसी भी महाव्रत में अतिचार लगने पर 108 स्वासोच्छ्वास किये जाते हैं।

आहार के अनन्तर गोचार प्रतिक्रमण में, ग्राम से ग्रामांतर गमन में, जिनेन्द्रदेव के पंचकल्याणक स्थानों की वंदना में, साधु की निषद्या वंदना में तथा मल-मूत्र विसर्जन के अनन्तर मुनिराज 25 स्वासोच्छ्वासपूर्वक नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कायोत्सर्ग करते हैं। अर्थात् उपर्युक्त स्थान के कायोत्सर्ग में 25 स्वासोच्छ्वास ही किये जाते हैं।

ग्रंथ स्वाध्याय के प्रारंभ और समापन में तथा देववंदना में जो कायोत्सर्ग होता है, उसमें 27 स्वासोच्छ्वास किये जाते हैं। कायोत्सर्ग के अनन्तर साधु धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में स्थिर होते हैं। स्थिर मुद्रा के करने से जैसे

अङ्गोपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं, वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मधूलि झड़ जाती है।

5.12 कायोत्सर्ग के चार भेद-

उत्थित—उत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्ट-उत्थित और उपविष्ट-निविष्ट।

जो साधु खड़े होकर जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं और उनके परिणाम भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान रूप हैं, उनका वह कायोत्सर्ग उत्थित-उत्थित है।

जो कायोत्सर्ग मुद्रा में तो खड़े हैं किन्तु परिणाम में आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान चल रहा है। उनका वह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट है।

जो बैठकर योगमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं किन्तु अन्तरंग में धर्मध्यान या शुक्लध्यान रूप उपयोग चल रहा है। उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्ट उत्थित है।

जो बैठकर आर्तध्यान या रौद्रध्यान रूप परिणाम कर रहे हैं। उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है।

इनमें से प्रथम और तृतीय अर्थात् उत्थित-उत्थित और उपविष्टोत्थित ये दो कायोत्सर्ग इष्टफलदायी हैं और शेष दो अनिष्ट फलदायी हैं।

जो प्राणायामविधि से मानसिक जाप्य करने में असमर्थ हैं, वे उपांशुरूप वचनोच्चारणपूर्वक वाचनिक जाप्य करते हैं किन्तु उसके फल में अन्तर पड़ जाता है। यथा—

''कायोत्सर्ग में वचन द्वारा ऐसा उच्चारण करें कि जिससे अपने पास बैठा हुआ भी कोई न सुन सके, उसे उपांशु जाप्य कहते हैं। यह वाचनिक जाप्य भी किया जाता है। किन्तु इसका पुण्य सौ गुणा है, तो मानसिक जाप्य का पुण्य हजारगुणा अधिक होता है।''

श्री उमास्वामी आचार्य ने इस महामंत्र को हमेशा जपते रहने को कहा है—

उठते, बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग में चलते समय, घर में कुछ काम करते समय पद-पद पर णमोकार को जो जपते रहते हैं, उनके कौन से मनोरथ सफल नहीं हो जाते हैं ? अर्थात् सम्पूर्ण वांछित सिद्ध हो जाते हैं।''

अन्यत्र भी कहा है—

''छींक आने पर, जँभाई लेने पर, खाँसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर या चिन्ता हो जाने पर इत्यादि प्रसंगों पर महामंत्र का जाप करना चाहिए। सोते समय और सोकर उठते ही णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए।'' कहने का तात्पर्य यही है कि हमेशा महामंत्र का ध्यान व चिंतन या उच्चारण करते रहना चाहिए। इससे विघ्नों का नाश होता है, शांति मिलती है तथा क्रम से ध्यान की सिद्धि होती है।

कायोत्सर्ग के 32 दोष-

अब कायोत्सर्ग के 32 दोष बतलाते हैं—

1. घोटक दोष—घोड़े के समान एक पैर उठाकर अर्थात् एक पैर से भूमि को स्पर्श न करते हुए खड़े होना।

2. लता दोष—वायु से हिलती लता के समान हिलते हुए कायोत्सर्ग करना।

3. स्तंभ दोष—स्तंभ का सहारा लेकर अथवा स्तंभ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना।

4. कुड्य दोष—दीवाल आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना।

5. माला दोष—पीठादि—पाटा आदि के ऊपर आरोहण कर अथवा मस्तक के ऊपर कोई रज्जु वगैरह वस्तु का आश्रय लेकर खड़े होना।

6. शबरी दोष—भिल्लनी के समान गुह्य अंग को हाथों से ढककर या जंघा से जघन को पीड़ित करके खड़े होना।

7. निगड दोष—अपने दोनों पैरों को बेड़ी से जकड़े हुए की तरह पैरों में बहुत अंतराल करके खड़े होना।

8. लंबोत्तर दोष—नाभि से ऊर्ध्व भाग को लंबा करके अथवा कायोत्सर्ग में स्थित हुए अधिक ऊँचे होना या झुकाना।

9. स्तनदृष्टि दोष—अपने स्तन भाग पर दृष्टि रखना।

10. वायस दोष—कौवे के समान इधर-उधर देखना।

11. खलीन दोष—जैसे घोड़ा लगाम लग जाने से दाँतों को घिसता—कटकट करता हुआ सिर को ऊपर-नीचे करता है, वैसे ही दाँतों को कट-कटाते हुए सिर को ऊपर नीचे करना।

12. युग दोष—जैसे कंधे के जुए से पीड़ित बैल गर्दन फैला देता है, वैसे ही ग्रीवा को लम्बी करके कायोत्सर्ग करना।

13. कपित्थ दोष—कैथ की तरह मुट्ठी बाँधकर कायोत्सर्ग करना।

14. शिर:प्रकंपित दोष—कायोत्सर्ग करते समय सिर हिलाना।

15. मूक दोष—मूक मनुष्य के समान मुख विकार करना, नाक सिकोड़ना।

16. अंगुलि दोष—कायोत्सर्ग करते समय अंगुलियों से गणना करना।

17. भ्रूविकार दोष—कायोत्सर्ग करते समय भृकुटियों को चढ़ाना या विकार युक्त करना।

18. वारुणीपायी दोष—मदिरापायी के समान झूमते हुए कायोत्सर्ग करना।

19. से 28 दिशावलोकन दोष—कायोत्सर्ग करते समय पूर्वादि दिशाओं का अवलोकन करना। इसमें दश दिशा संबंधी दश दोष हो जाते हैं।

29. ग्रीवोन्नमन दोष—कायोत्सर्ग करते समय गर्दन को ऊँची उठाना।

30. प्रणमन दोष—कायोत्सर्ग में गर्दन अधिक नीचे झुकाना।

31. निष्ठीवन दोष—थूकना, श्लेष्मा आदि निकालना।

32. अंगामर्श दोष—कायोत्सर्ग करने में शरीर का स्पर्श करना।

इन बत्तीस दोषों को छोड़कर धीर साधु दु:खों का नाश करने के लिए माया से रहित, विशेषतासहित, अपनी शक्ति और अवस्था—उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग करते हैं।

5.2 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-सामायिक किसे कहते है ?

प्रश्न 2-अहोरात्रि के कितने कृतिकर्म होते हैं ?

प्रश्न 3-प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ? प्रतिक्रमण के सात भेदों के नाम क्या हैं ?

प्रश्न 4-प्रत्याख्यान का लक्षण क्या है ? इसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 5-कायोत्सर्ग किसे कहते हैं ? कायोत्सर्ग में कितने दोष होते हैं ?

इकाई – 4 अनुप्रेक्षा, ध्यान एवं सल्लेखना

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) बारह भावना

(2) सोलहकारण भावना

(3) ध्यान

(4) सल्लेखना

पाठ-1 – बारह भावना

1.1 तत्त्वों के बार-बार चिन्तन को भावना अथवा अनुप्रेक्षा कहते हैं। ये 12 प्रकार की हैं। इन भावनाओं को बार-बार भाते रहने से संसार, शरीर, भोगादि से विरक्त भाव उत्पन्न होता है। भावना से परिणामों की उज्ज्वलता होती है, मिथ्यादर्शन का अभाव होता है, व्रतों में दृढ़ता बढ़ती है और शुभ ध्यान की वृद्धि होती है। भूतकाल में जो महापुरुष हुए हैं उन सभी ने इन भावनाओं का चिन्तन किया है।

उन सभी ने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म इन बारह भावनाओं का चिंतन किया है।

बारह भावनाओं का विवरण निम्नानुसार है-

1.1.1 अनित्य भावना एवं अशरण भावना-

अनित्य भावना

अब सर्वप्रथम अनित्य भावना को कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनित्य अनुप्रेक्षा है।

तन धन यौवन इन्द्रिय सुख ये, सब क्षणभंगुर हैं नित्य नहीं।
मैं नित्य अचल अविनश्वर हूँ, स्वाभाविक शक्ति अचिन्त्य कही।।
मैं नित ध्याऊँ निज आत्मा को, अविनश्वर पद के पाने तक।
मैं ज्ञाता दृष्टा बन जाऊँ, सर्वज्ञ अवस्था आने तक।।1।।

राजाओं का वैभव, देवों के विमान, धन, यौवन, ऐश्वर्य, बल, आज्ञा का चलना, इन्द्रिय के भोग ये सब एक निमिष मात्र भी स्थिर नहीं हैं। जैसे आकाश में बिजली चमक कर नष्ट हो जाती है, इन्द्रधनुष क्षण में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इस संसार में ये सब नष्ट होने वाले हैं। इन सबसे भिन्न मात्र अपने आत्म- स्वभाव की ही तुम सतत साधना करो कि जिससे तुम स्थिर ऐसी मुक्ति को प्राप्त कर सकोगे।

इस अध्रुव अथवा अनित्य भावना का चिंतवन करते रहने से मन में संसार की किसी भी वस्तु के प्रति विशेष ममत्व भाव नहीं रह जाता है बल्कि उससे भिन्न अपनी आत्मा शाश्वत काल रहने वाली नित्य है, उसमें ही सच्चा अनुराग उत्पन्न होता है तथा उस आत्मा की सिद्धि के लिए कारणभूत ऐसे पाँचों परमेष्ठियों की भक्ति, उपासना, आराधना में भी अनुराग होता है इसलिए इस अध्रुव अनुप्रेक्षा का हमेशा चिंतवन करते रहना चाहिए।

अशरण भावना

जग में क्या शरण कोई देगा, सब शरण रहित अशरणजन हैं।
आत्मा इक शरणागत रक्षक, उस ही का शरण लिया मैंने।।

यद्यपि अर्हंत जिन पंचगुरू, हैं शरणभूत निज भक्तों के।
पर निश्चय से निज आत्मा ही, रक्षा करती भव दु:खों से।।2।।

तात्पर्य यह हुआ कि अशरण भावना भाते समय निश्चयनय से अपनी आत्मा को ही शरण समझकर व्यवहार नय से पाँचों परमेष्ठी की शरण लेना चाहिए। यही इस भावना को भाने का सार है।

इस तीन लोकरूपी वन में जैसे व्याघ्र हरिण को पकड़ ले तो उसकी दाढ़ के नीचे गए हुए उस हरिण को कोई भी शरण नहीं है। उसी प्रकार हे जीव! मृत्यु के समय तुम्हारी रक्षा करने वाला भला कौन बलवान है ? माता-पिता, बन्धु, राजा और इन्द्र ये सभी तो यमराज के मुख का ग्रास बन रहे हैं पुन: ये तुम्हारी क्या रक्षा करेंगे ? हाँ, इस जगत में रक्षक वे ही हैं कि जिन्होंने यमराज को जीत लिया है इसलिए मृत्यु के विजेता ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की ही शरण लेवो।

1.1.2 संसार भावना एवं एकत्व भावना—

संसार भावना

हैं द्रव्य, क्षेत्र औ काल तथा, भव भाव पंच विध परिवर्तन।
निज आत्मा के अंदर रमते, ही रुक जाते सब परिभ्रमण।।
मैं हूँ निश्चय से भ्रमण रहित, शिवपुर में ही विश्राम मेरा।
मैं निज में स्थिर हो जाऊँ, फिर होवे भ्रमण समाप्त मेरा।।

इस तीन जगत में चिरकाल से मिथ्यात्व और मायाचार से यह जीव भ्रमण कर रहा है। श्री जिनेन्द्रदेव के धर्म को नहीं प्राप्त कर ही इसने अनंतकाल बिता दिया है। इस जगत में केवल दु:ख ही दु:ख है, शाश्वत शांति नहीं है। इसलिए हे भव्यजीव! तुम भव से रहित ऐसे जिनेन्द्रदेव का आश्रय लेवो कि जिससे पुन: तुम्हें इस संसार में जन्म-मरण ही न करना पड़े।

इस प्रकार संसार भावना के बार-बार चिंतवन करने से संसार से भय उत्पन्न होता है तब मोक्ष प्राप्ति के उपाय में प्रवृत्ति होती है।

एकत्व भावना

मैं हूँ अनादि से एकाकी, एकाकी जन्म मरण करता।
फिर भी अनंतगुण से युत हूँ, मैं जन्म मृत्यु भय का हरता।।
स्वयमेव आत्मा को ध्याऊँ, पूजूं वंदूँ गुणगान करूँ।
एकाकी लोक शिखर जाकर, स्थिर हो निज सुख पान करूँ।।

इस संसार में यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इसके साथ दूसरा कोई नहीं जाता है और न आता ही है। हे भाई! यह स्पष्टतया देखो, मात्र प्रत्येक जीव के साथ उसके किये हुए शुभ-अशुभ कर्म ही साथ जाते हैं बाकी कोई किसी के साथ नहीं जाता है। जैसे रात्रि में वृक्ष पर अनेक पक्षी आकर इकट्ठे हो जाते हैं और प्रात: होते ही अन्यत्र चले जाते हैं।

1.1.3 अन्यत्व भावना एवं अशुचि भावना—

अन्यत्व भावना

मेरी आत्मा से भिन्न सभी, किंचित् अणुमात्र न मेरा है।
मैं सबसे भिन्न अलौकिक हूँ, बस पूर्ण ज्ञान सुख मेरा है।।
मैं अन्य सभी पर द्रव्यों से, संबंध नहीं रख सकता हूँ।
वे सब अपने में स्वयं सिद्ध, मैं निज भावों का कर्ता हूँ।।

"यह घर मेरा है यह शरीर मेरा है" ऐसा कहते हुए यह संसारी प्राणी प्रत्येक वस्तु से स्नेह करते रहते हैं किन्तु वास्तव में कोई भी वस्तु इस जीव के साथ नहीं जाती है। जैसे जल और दूध मिलाने पर एकमेक हो जाते हैं वैसे ही यह जीव और शरीर दोनों एकमेक हो रहे हैं किन्तु इनका लक्षण अलग-अलग है। जल को अलग कर दूध पीने वाले हंस के समान तुम चिन्मय चैतन्य हंस अपनी आत्मा को कर्मों से अलग कर सुखी होवो।

अशुचि भावना

यह देह अपावन अशुचिमयी, सब शुचि वस्तु अपवित्र करे।
इस तन में राजित आत्मा ही, रत्नत्रय से तन शुद्धि करे।।
तन सहित तथापी अशरीरी, आत्मा को ध्याऊँ रुचि करके।
चैतन्य परम आल्हादमयी, परमात्मा बन जाऊँ झट से।।

यह शरीर मल, मूत्र आदि अशुचि पदार्थों का पिंड है इससे हमेशा दुर्गंध ही निकलती रहती है। चाहे जितना इसे नहलाओ, सुगंधित द्रव्य लगाओ पर वे भी अपवित्र हो जाते हैं। इस शरीर में स्थित आत्मा को तीन रत्न — रत्नत्रय से धोने पर यह पवित्र हो जाता है। ऐसी भावना भाने से शरीर से प्रेम नष्ट हो जाता है और रत्नत्रय में प्रीति उत्पन्न होती है जिससे इस नश्वर घृणित शरीर से ही आत्मा को अविनाशी पवित्र बनाया जाता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के भाते रहने से शरीर से ममत्व दूर हो जाता है और इस अपवित्र शरीर से रत्नत्रय द्वारा संसारी आत्मा को पवित्र कर लिया जाता है।

1.1.4 आस्रव भावना एवं संवर भावना —

आस्रव भावना

मिथ्या अविरती कषायों से, कर्मास्रव हैं आते रहते।
पर ये जड़ अशुचि अचेतन हैं, जड़ ही इनको रचते रहते।।
मेरा है चेतन रूप सदा, मैं इन कर्मों से भिन्न कहा।
मैं निज आत्मा को भिन्न समझ, इन कर्मास्रव से पृथक् किया।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनके द्वारा आठ प्रकार के कर्म आत्मा में आते हैं। ये शुभ-अशुभरूप से बंधकर अच्छे-बुरे फलों को देते रहते हैं। जैसे जहाज में छिद्र होने से चारों तरफ से उसमें जल भर जाने से वह समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार से संसार समुद्र में यह आत्मा इन आस्रव के कारण डूब जाता है।

इस आस्रव भावना को समझकर मिथ्यात्व आदि से बचना, उनके विपरीत सम्यक्त्व, विरति आदि को ग्रहण करना यही इस आस्रव भावना को भाने का सार है।

संवर भावना

गुप्ति समितियुत संयम ही, कर्मों का संवर करते हैं।
निश्चय से निज में गुप्त रहूँ, तब कर्मास्रव सब रुकते हैं।।
मैं निर्विकल्प निज परम ध्यान, में लीन रहूँ परमारथ में।
फिर कर्म कहो आते कैसे ? ये भी रुक जाते मारग में।।

जहाज के छिद्रों को बंद करने से वह उसमें बैठने वालों को समुद्र के किनारे पहुँचा देता है वैसे ही कर्म के छिद्रों को रोकने के लिए संयम की आवश्यकता है। हे भव्यजीव! तुम हमेशा व्रत, समिति आदि के पालन करने में तत्पर होवो क्योंकि इस संसार को पार करने के लिए संवर भावना ही है, ऐसा तुम सतत मन में चिंतवन करते रहो।

संवर भावना को भाते रहने से आस्रव से भय होता है और संवर को प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न होती है। यही इस भावना के चिंतन करने का अभिप्राय है।

1.1.5 निर्जरा भावना एवं लोक भावना—

निर्जरा भावना

ध्यानाग्नि से सब कर्मपुंज, को जला जलाकर भस्म करूँ।
बहिरंतर तप तपते तपते, निज से कर्मों को जुदा करूँ।।
मैं कर्मरहित निज आत्मा को, जब निज में स्थिर कर पाऊँ।
तब कर्म स्वयं ही झड़ जावें, मैं मुक्तिश्री को पा जाऊँ।।

जैसे सूर्य के आतप से सरोवर का जल सूख जाता है वैसे ही तपश्चर्या के द्वारा कर्मों को सुखाना चाहिए। आगे के आने वाले कर्म रुक गये और पुराने बंधे हुए झड़ते गये तो क्रम से सब कर्मों की निर्जरा होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा सतत चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

यह निर्जरा भावना कर्मों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। इसके भाते रहने से आत्मा से कर्मों का भार हल्का होता है।

लोक भावना

यह लोक अनादि अनिधन है, यह पुरुषाकार कहा जिन ने।
नहिं किंचित् सुख पाया क्षण भर, मैं घूम घूम कर इस जग में।।
अब मैं निज का अवलोकन कर, लोकाग्रशिखर पर वास करूँ।
मैं लोकालोकविलोकी भी, निज का अवलोकन मात्र करूँ।।

यह लोक तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण घनरूप है, पुरुष के आकार का है। इसी में चौरासी लाख योनियों में अनेक आकार को धारण करके यह जीव घूम रहा है। तत्त्वज्ञान के बिना इस लोक में लेशमात्र भी शांति नहीं मिल सकती है। जो लोक के अग्रभाग में निवास कर रहे हैं ऐसे सिद्ध भगवान को ही पूर्ण शांति प्राप्त है, वे ही स्थिर पद पर निवास कर रहे हैं।

इस लोक भावना के बार-बार भाते रहने से यह जीव ऊर्ध्वलोक को प्राप्त करने का प्रयास करता है पुनः धीरे-धीरे लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेता है।

1.1.6 बोधिदुर्लभ भावना एवं धर्म भावना—

बोधिदुर्लभ

दुर्लभ निगोद से स्थावर, त्रस पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ।
दुर्लभ उत्तम कुल देश धर्म, रत्नत्रय भी पाना दुर्लभ।।
सबसे दुर्लभ निज को पाना, जो नित प्रति निज के पास सही।
दुर्लभ निज को पाकर निज में, स्थिर हो पाऊँ सौख्य मही।।

इस जगत में पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर एकेन्द्रिय से त्रस पर्याय में दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है, पुनः पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। इसको पाकर उत्तम कुल, बल, जाति, रूप, शरीर स्वस्थता, बुद्धि और श्रेष्ठ गुणों का पाना दुर्लभ है। इन सबको पाकर भी उत्तम संयम पाना पुनः अंत में समाधिमरण प्राप्त करना बहुत ही दुर्लभ है। इन सबको पाकर हे भव्य! तुम जिनराज के चरणों का आश्रय लेवो कि जिससे जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जावे।

धर्म भावना

जो भवसमुद्र में पतित जनों को, निज सुखपद में धरता है।
है धर्म वही मंगलकारी, वह सकल अमंगल हर्ता है।।
वह लोक में है उत्तम सबमें, औ वही शरण है सब जन को।
निज धर्ममयी नौका चढ़कर, मैं शीघ्र तिरूँ भवसिंधू को।।

इस जीवन में धर्म ही श्री है और धर्म ही श्रेष्ठ है, यह धर्म ही कल्पवृक्ष है, चिंतामणि है, इसके समान और कुछ भी नहीं है। हे आत्मन्! तुम यदि सतत शांति चाहते हो तो सर्व भ्रांति को छोड़कर इस धर्मरूपी अमृत का पान करो, पान करो, यही अजर अमर पद को देने वाला है।

यह धर्म संसार में सर्व मनोरथ को पूर्ण कर अनेक अभ्युदयों को प्रदान करता है पुनः सर्व कर्मों का नाश कर मोक्षसुख देने वाला है। धर्म के बिना इस जगत में कुछ भी सार नहीं है, ऐसा बार-बार भाते रहने से यह धर्म आत्मा को परमात्मा बना देता है।

विशेष—अनेक सन्तों एवं कवियों द्वारा बारह भावनाएँ रची गयी हैं। उनमें से कोई भी बारह भावना यहाँ ली जा सकती हैं।

1.2 अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न 1-बारह भावनाओं के नाम बताइये ?

प्रश्न 2-एकत्व भावना का विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 3-अन्यत्व भावना का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 4-बोधि दुर्लभ भावना का स्वरूप बताइये ?

पाठ-2—सोलह कारण भावना

2.1 जिन्हें बार-बार भाया जावे अर्थात् जिनका बार-बार चिन्तन किया जावे वे भावना कहलाती हैं। जैन-धर्म में 2 प्रकार की भावनाएं प्रसिद्ध हैं- बारह भावना और सोलह कारण भावना। बारह प्रकार की भावनाओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

ये सोलह भावनाएं ही तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण हैं, अतः इन्हें सोलह कारण भावनाएं कहते हैं। इन 16 भावनाओं में प्रथम भावना दर्शन-विशुद्धि है। इस भावना का भाना परमावश्यक है। यदि यह भावना नहीं है तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता है। इस के साथ कुछ अन्य (या सभी शेष 15) भावनाएं और हों तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। यह बन्ध केवली या श्रुतकेवली के चरणारविन्द में ही होता है।

2.2 सोलह भावनाएं निम्नानुसार हैं—

1. दर्शनविशुद्धि भावना—सम्यग्दर्शन का अत्यन्त निर्मल व दृढ़ होना, 25 दोष रहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना ।

2. विनय-सम्पन्नता भावना—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और रत्नत्रय की विनय करना।

3. शील-व्रत अनतिचार भावना—अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिये क्रोध आदि कषाय का त्याग करना शील है। शील व व्रतों का निर्दोष पालन करना तथा उनमें अतिचार नहीं लगाना।

4. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना—अभीक्ष्ण का अर्थ सदा या निरंतर है। ज्ञान के अभ्यास में सदा लगे रहना।

5. संवेग भावना—दुःखमय संसार के आवागमन से सदा डरते रहना, धर्म और धर्म के फल में सदा अनुराग रखना।

6. शक्तितस्तप भावना—अपनी शक्ति के अनुसार अंतरंग व बाह्य तप करना ।

7. शक्तितस्त्याग भावना—अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, शास्त्र आदि का दान देना।

8. साधुसमाधि भावना—'साधु' का अर्थ है श्रेष्ठ और 'समाधि' का अर्थ है मरण। अतः श्रेष्ठ मरण की भावना भाना साधु समाधि भावना है। साधु, व्रती पर आई विपत्तियों का निवारण भी इसमें आता है।

9. वैयावृत्त्यकरण भावना—रोगी, वृद्ध, साधु-त्यागी की सेवा-सुश्रुषा करना, उनके कष्टों को औषधि आदि निर्दोष विधि से दूर करना।

10. अरहन्तभक्ति भावना—अरहन्त की भक्ति करना, अरहन्त द्वारा कहे अनुसार आचरण करना। उनके गुणों में अनुराग रखते हुए, ऐसे गुण स्वयं को प्राप्त हों, ऐसी भावना भाना।

11. आचार्यभक्ति भावना—आचार्य परमेष्ठी की भक्ति करना, उनके गुणों में अनुराग रखना एवं ऐसे गुण हमें भी प्राप्त हों ऐसी भावना सदैव रखना ।

12. बहुश्रुतभक्ति भावना—जो मुनि द्वादशांग के पारगामी हैं, वे बहुश्रुत कहलाते हैं। चूँकि शास्त्रों में पारंगत उपाध्याय परमेष्ठी हैं, अतः इस भावना का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करने से है। उपाध्यायों का आदर, विनय करना उनके उपदेशों के अनुरूप प्रवृघि करना बहुश्रुत भक्ति भावना है, ऐसे ही गुण हमें प्राप्त हों ऐसी भावना सदैव बनाये रखना।

13. प्रवचनभक्ति भावना—केवली भगवान के प्रवचन में अनुराग रखना अर्थात् वीतरागी द्वारा प्रणीत आगम (जिनवाणी) की भक्ति करना।

14. आवश्यकअपरिहाणि भावना—अपरिहाणि का अर्थ "न छोड़े जाने योग्य" है। इस प्रकार छः आवश्यक

क्रियाओं को यथासमय सावधानी पूर्वक करना इस भावना में आता है।

15. मार्ग प्रभावना भावना— ज्ञान, ध्यान ,तप, पूजा आदि के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताये गये धर्म (अर्थत् जैनधर्म) को प्रकाशित करना, फैलाना मार्ग प्रभावना भावना है। विद्यालय व औषधालय खुलवाना, असहाय व्यक्तियों की सहायता करना आदि कल्याणकारी कार्य भी इस भावना में आते हैं।

16. प्रवचनवात्सल्य भावना— साधर्मी बंधुओं में अगाध प्रेम भाव रखना।

विशेष— सोलहकारण भावनाओं का क्रम षट्खण्डागम (पुस्तक-८) में कुछ अलग प्रकार से है। उसे जानने हेतु ज्ञानामृत भाग-२ एवं तीर्थंकर बनने के नियम नामक ग्रंथों (जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित) से पढ़ना चाहिए।

2.3 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-सोलहकारण भावनाओं के नाम लिखिये।

प्रश्न 2-इन भावनाओं के भाने का फल क्या है ?

प्रश्न 3-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना को समझाइये ?

प्रश्न 4-प्रवचन-भक्ति भावना से क्या आशय है ?

पाठ-3 — ध्यान

3.1 ''उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अंतर्मुहूर्त काल तक होता है।''

आदि के वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीनों संहनन उत्तम माने हैं। ये तीनों ही ध्यान के साधन हैं किन्तु मोक्ष का साधन तो प्रथम संहनन ही है।

नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिंता परिस्पंदवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखों से—विषयों से लौटाकर एक अग्र—एक विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्ता निरोध कहलाता है। यही ध्यान है, यह उत्कृष्ट भी एक मुहूर्त के भीतर ही तक होता है चूँकि इसके बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर ही है। चिन्ता के निरोध—अभाव- प होने से यह ध्यान असत्—शून्यरूप नहीं है प्रत्युत् ''निश्चल अग्नि की शिखा के समान निश्चलरूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।''

''जो एक चिन्ता का निरोध है वह तो ध्यान है और जो इससे भिन्न है वह भावना है। उसे विद्वान् लोग अनुप्रेक्षा अथवा अर्थ चिन्ता भी कहते हैं।''

3.2 ध्यान के चार भेद हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। यह ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार भी हो जाता है। पापास्रव का कारणभूत अप्रशस्त है और कर्म दहन की सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त है। अन्यत्र भी कहा है—

''जिस ध्यान में मुनि रागरहित हो जावें, वह प्रशस्त ध्यान है और वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ तथा राग, द्वेष, मोह से पीड़ित जीव की स्वाधीन प्रवृत्ति अप्रशस्त ध्यान है। यह बिना उपदेश के ही होता है क्योंकि यह अनादि वासना है।

''धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के लिए कारण हैं और आर्तरौद्र ध्यान संसार के लिए कारण हैं।''

आर्तध्यान—'ऋतं' अर्थात् दुःख, अथवा 'अर्दनमर्तिः' अर्थात् पीड़ा है। इसमें होने वाला ध्यान 'आर्तध्यान' है। इसके चार भेद हैं—

विष कंटक शत्रु आदि अप्रिय पदार्थ अमनोज्ञ हैं। उनका संयोग होने पर 'मैं क्या उपाय करूँ कि जिससे यह मुझसे दूर हो जावें' ऐसा बार-बार चिंतन करना अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है।

स्वपुत्र, धन, स्त्री, आदि मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है।

शरीर में वेदना के होने से उसके दूर करने हेतु बार-बार विचार करना तृतीय वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

आगामी विषयों की प्राप्ति हेतु मन का उपयोग लगाना—चिन्ता करना सो निदान आर्तध्यान है।

''यह आर्तध्यान पहले गुणस्थान से लेकर छठे तक हो सकता है। छठे में मात्र निदान आर्तध्यान नहीं है। बाकी तीन आर्तध्यान प्रमाद के उद्रेक से कदाचित् हो सकते हैं।''

रौद्रध्यान—'रुद्रः' अर्थात् क्रूर आशय, इसका जो कर्म है अथवा जो क्रूराशय से होता है वह रौद्रध्यान है। उसके भी चार भेद है—'हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के लिए सतत चिन्तन करना। इस प्रकार से इन चार के आश्रय से चार भेद रूप रौद्रध्यान है। यह पहले गुणस्थान से लेकर देशविरत गुणस्थान तक होता है।

''देशविरत के रौद्रध्यान कैसे हो सकता है?''

हिंसादि के आवेश से या धन आदि के संरक्षण की परतंत्रता से कदाचित् देशव्रती के भी हो सकता है किन्तु सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से उसका यह ध्यान नरक आदि दुर्गतियों का कारण नहीं है।''

धर्मध्यान—धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मंदबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से और पदार्थों के सूक्ष्म होने से इत्यादि कारणों से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' ऐसा गहन पदार्थों का भी श्रद्धान द्वारा अर्थ निश्चित करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है अथवा जो स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और जो दूसरों को उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए जो स्वसिद्धान्त का समर्थन, चिंतवन आदि है वह सभी आज्ञाविचय है।

मिथ्यादृष्टी जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख हो रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान न होने से मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन आदि से कैसे दूर हों, ऐसा निरन्तर चिंतन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों के उदय से होने वाले फल के अनुभव का बार-बार चिंतन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिंतवन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से सहित ध्यानधर्म्य ध्यान है। यह अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है।

श्री वीरसेन स्वामी ने धवला में धर्म्य ध्यान को दशवें गुणस्थान तक भी माना है।

अन्यत्र ग्रंथों में संस्थानविचय धर्म्य के पिंडस्थ पदस्थ आदि चार भेद किये हैं, जो कि मन को बाह्य प्रपंचों से हटाने के लिए बहुत ही सहायक होते हैं।

इसमें आचार्य ने सबसे पहले ध्याता का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो सर्वारंभ परिग्रह से रहित मुनि हैं, वे ही इन्द्रिय और मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं। गृहस्थी बेचारे नित्य ही सर्वारंभ में फँसे हुए होने से ध्यान के अधिकारी नहीं हैं। यथा — "कदाचित् आकाश के पुष्प और गधे के सींग हो सकते हैं परन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।[1]"

इस हेतु से मुख्यतया मुनियों के लिए ध्यान सिद्धि का उपाय बताते हुए पहले आचार्य ने मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं के आश्रय लेने को कहा है 'पुनः और अध्यात्म भावनाओं के भाने का उपदेश दिया है।

3.3 ध्यान के योग्य स्थानादि—

स्थान — ध्यान के लिए बाधक स्थानों को छोड़कर उत्तम स्थानों के आश्रय लेने का उपदेश दिया है। "सिद्धक्षेत्र महातीर्थों पर, पुराणपुरुष तीर्थंकर आदि के जहाँ गर्भ, जन्म आदि कल्याणक हुए हैं, ऐसे जो पवित्र पुण्य स्थान हैं अथवा समुद्र के किनारे, वन में, पर्वत की चोटी पर इत्यादि निर्जन स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है। सिद्धकूट तथा कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों में महाऋद्धि के धारक महाधीर वीर संयमी सिद्धि की वांछा करते हैं। अभिप्राय यही है कि जहाँ उपयोग स्थिर हो सके और परिणाम राग-द्वेष से विक्षिप्त नहीं होवें, वही स्थान योग्य है।"

आसन — "समाधि-ध्यान की सिद्धि के लिए काष्ठ के पट्टे पर, शिला पर अथवा भूमि पर वा बालू रेत में भले प्रकार स्थिर आसन लगाना चाहिए।"

पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यान के योग्य आसन होते हैं। जिस आसन पर मुनि सुखपूर्वक मन को निश्चल कर सके, वही आसन श्रेयस्कर है। वज्रवृषभ नाराच संहनन काय वाले मुनि भयंकर से भयंकर उपसर्गों के आ जाने पर भी ध्यान से स्खलित नहीं होते हैं। हीन संहनन वालों को भी आसन स्थिर करने का अभ्यास करते हुए परीषह उपसर्गों को जीतने का अभ्यास करना चाहिए।

स्वामी — "इस धर्मध्यान के स्वामी मुख्यरूप से अप्रमत्त मुनि सप्तम गुणस्थानवर्ती ही हैं और उपचार से प्रमत्तमुनि-छठें गुणस्थानवर्ती मुनि हैं। जो अप्रमत्तमुनि उत्तम संस्थान और उत्तम संहनन सहित, जितेन्द्रिय, स्थिर, पूर्ववेदी-द्वादशांग के वेत्ता, संवरवान् और धीर हैं वे ही सम्पूर्ण लक्षण से समन्वित ध्यान के अधिकारी हैं।

अथवा चौदह पूर्वों के ज्ञान से रहित भी श्रुतज्ञानी श्रेणी के नीचे सातवें गुणस्थान तक ध्यान के स्वामी होते हैं।

किन्हीं आचार्यों ने धर्मध्यान के चार स्वामी भी माने हैं—अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से ये चारों गुणस्थान वाले भी धर्मध्यान के करने वाले होते हैं।''

''धर्मध्यान के चतुर्थ भेद—संस्थान विचय के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद माने गये हैं।''

3.4 पिंडस्थ ध्यान—

पिंडस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसी पाँच धारणाएँ होती हैं।

पार्थिवी धारणा—प्रथम ही योगी मध्यलोक में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत जो तिर्यक्लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोल रहित, सफेद क्षीरसमुद्र का चिंतवन करे। उसके मध्यभाग में अमित फैलती हुई दीप्ति से शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्ण की सी प्रभा वाले एक सहस्रदल के कमल का चिंतन करे। यह कमल जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन विस्तृत है, ऐसे सोचे। पुनः उस कमल के मध्य में सुवर्णाचल-मेरु के समान पीतरंग की प्रभा वाली कर्णिका का चिंतवन करे। उस कर्णिका में एक ऊँचा सिंहासन है। उस पर अपनी आत्मा को सुखरूप, शांत स्वरूप क्षोभरहित चिंतवन करे। मैं सम्पूर्ण रागद्वेषादि को क्षय करने में समर्थ हूँ, कर्म की संतान को नाश करने में उद्यमी हूँ। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप हुआ।

आग्नेयी धारणा—तत्पश्चात् योगी निश्चल अभ्यास में चिंतवन करे कि अपने नाभिमंडल में 16 ऊँचे-ऊँचे पत्रों का कमल है। उनमें क्रम से ''अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः'' ये सोलह अक्षर स्थित हैं और कर्णिका पर ''र्हं'' ऐसा महामंत्र विराजमान है। पुनः उस महामंत्र के रेफ से मंद-मंद धूमशिखा उठ रही है, अनन्तर उसमें से प्रवाहरूप स्फुलिंगों की पंक्ति निकलने लगी, तत्पश्चात् उसमें से ज्वाला की लपटें उठने लगीं। पुनः वे लपटें बढ़ते हुए हृदय में स्थित कमल को जलाने लगी हैं अर्थात् हृदय में अधोमुख आठ पांखुड़ी वाला एक कमल है उसके दलों पर क्रमशः आठ कर्म स्थित हैं। इस कमल को 'र्हं' बीजाक्षर से निकली हुई अग्नि ने जला दिया है। तब आठों कर्म जल चुके हैं, यह एक चैतन्य परिणामों की ही सामर्थ्य है।

उस कमल के जल जाने पर शरीर के बाह्य अग्नि त्रिकोणाकार हो गई है, यह ज्वाला के समूह से बडवानल के समान है तथा अग्निबीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अंत में साथिया के चिन्हों से चिन्हित है। ऊर्ध्व वायुमंडल से उत्पन्न धूमरहित कांचन सी प्रभा वाला यह त्रिकोणाकार है। इस प्रकार धकधकायमान फैलती हुई अग्नि की लपटों से बाहर का अग्निमंडल अंतरंग की मंत्राग्नि को दग्ध कर रहा है। पुनः यह नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्मीभूत करके जलाने योग्य वस्तु का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप अग्नि शांत हो जाती है। यह आग्नेयी धारणा हुई।

श्वसना धारणा—तत्पश्चात् योगी आकाश में पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवान् और महाबलवान् वायुमंडल का चिंतवन करता है। यह पवन मेरु पर्वत को भी कंपित करने वाली है, मेघों के समूह को बिखेरती हुई, समुद्र को क्षुब्ध करती हुई, लोक के मध्य गमन करती हुई, दशों दिशाओं में संचरती हुई, जगत्रूपी घर में फैली हुई और पृथ्वीतल में प्रवेश करती हुई ऐसा चिंतवन करता है। पुनः जो शरीरादि की भस्म है, उसको इस वायुमंडल ने तत्काल उड़ा दिया। तत्पश्चात् यह स्थिर होकर शांत हो गई है। ऐसा चिंतवन करना मारुती या श्वसना धारणा है।

वारुणी धारणा—

पुनः मुनिराज इन्द्रधनुष, बिजली गर्जनादि चमत्कार सहित मेघों से भरे हुए आकाश का चिंतवन करते हैं। ये मेघ अमृत से उत्पन्न मोती के समान उज्ज्वल बड़े-बड़े मोतियों से निरंतर धारारूप बरस रहे हैं, पुनः अर्द्धचंद्राकार मनोहर

अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणमंडल का चिंतवन करते हैं। दिव्यध्यान से उत्पन्न हुआ यह जल शरीर के जलाने से उत्पन्न हुई समस्त भस्म को धो देता है। यह वारुणी धारणा हुई।

तत्त्वरूपवती धारणा — अनंतर संयमी मुनि सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल प्रभा वाले, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। हमारी आत्मा अतिशय से युक्त, सिंहासन पर आरूढ़, कल्याणकों की महिमा सहित, देवेन्द्रों से पूजित हैं। आठ कर्मों के विलय हो जाने से स्फुरायमान, अतिनिर्मल पुरुषाकार है। ऐसा चिंतवन करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान के निश्चल अभ्यास से ध्यानी मुनि थोड़े ही काल में मोक्षसुख को प्राप्त कर लेते हैं।

3.5 पदस्थ ध्यान —

जिसको योगीश्वर अनेक पवित्र मंत्रों के अक्षर का अवलम्बन लेकर चिंतवन करते हैं, वह पदस्थ ध्यान है। इसमें सर्वप्रथम अनादि-सिद्धान्त में प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। चूँकि यह सम्पूर्ण वाङ्मय की जन्मभूमि है।

वर्णमातृका ध्यान — ध्याता मुनि नाभिमंडल में स्थित सोलह दल वाले कमल की पांखुड़ियों पर क्रमशः 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन सोलह स्वरों का चिंतवन करे। पुनः अपने हृदयस्थान में कर्णिका सहित चौबीस पांखुडी के कमल पर कर्णिका तथा पात्रों में क्रमशः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न फ ब भ म' इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे। अनन्तर आठ पत्रों से विभूषित मुखकमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए 'य र ल व श ष स ह' इन आठ वर्णों का ध्यान करे।

इस प्रकार इन 49 वर्ण मातृकाओं का ध्यान करने वाला साधु श्रुतसमुद्र का पारगामी हो जाता है तथा क्षयरोग, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास, श्वांस आदि रोगों को जीत लेता है और वचनसिद्धि, पूज्यता आदि गुणों का पुञ्ज हो जाता है।

मंत्रराज का ध्यान — 'ऊर्ध्वाधोरयुतं सविन्द सपरं' ऐसा मंत्र 'र्ह्ँ' है, उसका ध्यान करते हैं। इसका कैसा ध्यान करें—

सुवर्णमल कमल की कर्णिका पर विराजमान मल-कलंक रहित पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल, आकाश में गमन करते हुए तथा दिशाओं में व्याप्त होते हुए इस मंत्र का ध्यान करें। कितने लोग इस मंत्र को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और बुद्ध कहते हैं। वास्तव में जिनेन्द्र भगवान ही मानो मंत्रमूर्ति को धारण करके साक्षात् विराजमान हैं। धैर्यवान् योगी कुंभक प्राणायाम से इस मंत्रराज को भौंह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमल में प्रवेश करता हुआ, तालु के छिद्र में गमन करता हुआ, अमृतमय जल से झरता हुआ, नेत्र की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों में स्थिति करता हुआ, ज्योतिषियों के समूह में भ्रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाओं में संचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, कलंग समूह को छेदता हुआ, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा मोक्षस्थान को प्राप्त करता हुआ और मोक्षलक्ष्मी से मिलाप करता हुआ, ऐसा इसे ध्यावें।

इस मंत्राधिप के ध्यान में इतना तल्लीन हो जावें कि स्वप्न में भी इस मंत्र से च्युत न हों। ध्याता मुनि नासिका के अग्रभाग में अथवा भौहों के मध्य में इसको निश्चल करे।

इस मंत्रराज के ध्यान से अणिमा आदि सर्व ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। दैत्यादि भी सेवा करने लगते हैं।

3.6 प्रणव मंत्र का ध्यान —

'ॐ' मंत्र को चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का चिंतवन करे। यह पंचपरमेष्ठी वाचक महामंत्र समस्त दुःखरूपी अग्नि को शांत करने में मेघ के समान है। इसको हृदयकमल की कर्णिका में अथवा ललाट आदि में स्थापित करके ध्यावे।

अन्य मंत्रों का ध्यान—आठ पत्रों के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' पुनः दिशाओं में क्रम से 'णमो सिद्धाणं', णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' ये चार मंत्र और विदिशाओं के चार पत्रों पर 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः' इन चार मंत्र पदों का चिंतवन करे। इस प्रकार अष्टदल कमल और कर्णिका में नव मंत्रों को स्थापित कर ध्यान करे।

इस मंत्र के प्रभाव से योगीश्वर अनन्त क्लेश से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

हे मुने! तुम मंत्र पदों के स्वामी और मुक्तिमार्ग के प्रकाशक ऐसे 'अ' अक्षर को नाभिकमल में 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर, 'आ' अक्षर को कंठस्थ कमल में, 'उ' अक्षर को हृदय कमल पर और 'सा' अक्षर को मुखस्थ कमल पर ऐसे 'असि आ उसा' इन पाँच अक्षरों को पाँच स्थानों में चिन्तवन करो।

'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' इस षोडश अक्षर वाली महाविद्या का जो दो सौ बार जप करता है वह नहीं चाहते हुए भी एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही 'अरहंत सिद्ध' इस षट् अक्षरी मंत्र का तीन सौ बार जप करने से, 'अरहंत' इस चार अक्षर वाले मंत्र का चार सौ बार जप करने से योगी एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है।

'सिद्ध' यह दो अक्षरों का मंत्र समस्त द्वादशांग रूप श्रुतस्कंध का सार है। जो मुनि 'अ' एक अक्षरी मंत्र को पाँच सौ बार जपता है, वह एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। जो यह उपवास के फल का कथन है सो मात्र रुचि उत्पन्न कराने के लिए किंचित् मात्र कथन है किन्तु वास्तव में इन मंत्रों का उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है।

'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उसा नमः' यह मंत्र भी द्वादशांग में सारभूत समझकर निकाला गया है। इसके निरन्तर अभ्यास से मुनि संसार बंधन को काट देते हैं।

'चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंत सरणं पवज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिणपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।''

जो संयमी एकाग्र बुद्धि से इन मंगल, उत्तम और शरणभूत पदों का चिन्तवन करता है, वह मोक्षलक्ष्मी का आश्रय लेता है और भी अनेकों मंत्र हैं जो कि गुरु के मुख से ही ग्रहण करने योग्य हैं। इन बहुत प्रकार के मंत्र पदों का ध्यान करके योगी मन को एकाग्र करने का अभ्यास बना लेता है तथा अनन्त पुण्य संचय करते हुए अनन्त पापराशि को जला डालता है।

3.7 रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान—

रूपस्थ ध्यान—इस रूपस्थ ध्यान में अरहंत भगवान् का ध्यान करना चाहिए। अरहंत भगवान् समवसरण में स्थित हैं बारह सभायें चारों ओर से घिरी हुई हैं। उनमें मध्य में सर्वज्ञ, वीतराग, परमेश्वर, देवाधिदेव सप्तधातु से रहित, दिव्य परमौदारिक उत्तम शरीर सहित, अचिन्त्य महिमाशाली अर्हंत भगवान् विराजमान हैं। समवसरण का विस्तृत वर्णन समझकर उसकी रचना बनाकर उसमें विराजमान जिनेन्द्र देव का ध्यान करना चाहिए।

रूपातीत ध्यान—इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यान में जिसका चित्त स्थिरीभूत है ऐसा योगी अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियों के अगोचर, चिदानंदमय, शुद्ध, परमाक्षररूप आत्मा को अपनी आत्मा के द्वारा ही स्मरण करे, सो रूपातीत ध्यान है। प्रथम तो उस परमात्मा के गूणसमूहों को पृथक्-पृथक् विचारे, पुनः उस परमात्मा के गुणों को और परमात्मा को गुण-गुणी में भेद न करके अभिन्न रूप विचारे। अनन्तर आप स्वयं उस परमात्मा में ही लीन हो जावे। परमात्मा के स्वभाव से एकरूप भावित मिला हुआ ध्यानी उस परमात्मा के गुणों से पूर्णरूप अपने आत्मा को करके फिर उसे परमात्मा में योजित करे क्योंकि मेरी आत्मा और परमात्मा में शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा से समानता है अर्थात् मेरी आत्मा भी

शक्तिरूप से परमात्मा के समान ही है। ''ऐसा अपने आपको परमात्मा में तन्मय करके एकमेक हो जावे, पुनः पृथक्पने का भान ही न रहे, यह रूपातीत ध्यान है।''

3.8 शुक्ल ध्यान—

जिसमें शुचिगुण का संबंध है वह शुक्लध्यान है। यह श्रेणी चढ़ने के पहले अर्थात् सातवें गुणस्थान तक नहीं होता है। इसके भी चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। आदि के दो ध्यान पूर्वविद्-श्रुतकेवली के होते हैं और अंत के दो ध्यान केवली के होते हैं। तीनों योग वाले के पहला ध्यान, तीनों में से किसी एक योग वाले के दूसरा ध्यान, काययोग वाले सयोगकेवली के ही तीसरा और योगरहित अयोगकेवली के ही चौथा ध्यान होता है। गुप्ति, समिति आदि उपायों से युक्त मुनि जो कि भली प्रकार से परिकर्म करने वाले हैं, वे ही संसार का नाश करने के लिए पूर्वोक्त चार प्रकार के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को करने में समर्थ होते हैं।

पृथक्त्ववितर्क—जिसमें पृथक्-पृथक् रूप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण होता रहता है वह पृथक्त्ववितर्क विचार शुक्लध्यान है।

परिणामों की विशुद्धि से बढ़ता हुआ साधु मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता हुआ इस ध्यान को करता है।

एकत्ववितर्क—पुनः समूलचूल मोहनीय को नाश करने की इच्छा करता हुआ साधु अनन्तगुणी विशुद्धि के बल से अर्थ, व्यंजन, योगों की संक्रान्ति से रहित होता हुआ निश्चल मन वाला इस एकत्ववितर्क ध्यान के बल से घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्मसात् कर देता है।

तब तत्क्षण केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो जाता है। वह केवली भगवान इन्द्रों द्वारा रचित समवसरण में विराजमान हो जाते हैं। इस पृथ्वीतल से पाँच हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं और आकाश में अधर स्थित रहते हैं अर्थात् समवसरण में कमलासन से भी चार अंगुल अधर विराजमान रहते हैं। ये त्रिभुवनपूज्य भगवान उत्कृष्टरूप से कुछ कम एककोटि पूर्व वर्ष तक इस भुवन में विहार करके भव्यों को धर्म का उपदेश देते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति—जब आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहती है और शेष नाम आदि कर्मों की स्थिति कुछ अधिक रहती है, तो स्वभाव से केवली समुद्घात होता है जिससे स्थिति समान हो जाती है अन्यथा यदि चारों कर्मों की स्थिति बराबर है, तो वे सब प्रकार वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को करते हैं।

व्युपरतक्रियानिवर्ति—इस ध्यान में सब प्रकार के योगों के निमित्त से होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप क्रिया का अभाव हो जाने से इसे व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगकेवली के होता है। उस समय वे भगवान ध्यानातिशय रूप अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण कर्म ईंधन को जलाकर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं। इस गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण के काल मात्र ही है। पुनः कर्मबंधन से छूटे हुए सिद्ध भगवान एक समय से ही लोकशिखर के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाते हैं। चूँकि आगे अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वे आगे नहीं जा सकते हैं। ये सिद्ध परमेष्ठी निरंजन, परमात्मा अनन्त-अनन्त काल तक अपने अनन्त सुख का उपभोग करते हुए परमानन्दमय परम तृप्त रहते हैं। फिर वापस संसार में कभी भी नहीं आते हैं।

विशेष—वर्तमान में उत्तम संहनन नहीं होने से शुक्लध्यान नहीं हो सकता है। धर्मध्यान ही होता है। उसमें भी अनेकों भेद होने से धर्मध्यानी दिगम्बर मुनियों में भी अनेकों भेद हो जाते हैं तथा धर्मशुक्ल की अपेक्षा भी इनमें अनेकों भेद माने जाते हैं।

3.9 पिण्डस्थ ध्यान की विधि-

ध्यान का लक्षण—एकाग्रचिन्तानिरोध होना अर्थात् किसी एक विषय पर मन का स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान उत्तम संहनन वाले मनुष्य के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट) तक ही हो सकता है। ध्यान के चार भेद माने हैं। जिनके लिए कहा भी है—

आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं, निर्मूल्य त्वत्प्रसादतः।
धर्मध्यानं प्रपद्याहं, लप्स्ये निःश्रेयसं क्रमात्।।

अर्थात् हे भगवन्! आर्त-रौद्र इन दो दुर्ध्यानों को आपके प्रसाद से निर्मूल करके मैं धर्मध्यान को प्राप्त करके क्रम से मोक्ष को प्राप्त करूँगा।

सारांश यह है कि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार प्रकार के जो ध्यान हैं वे चारों गतियों को प्राप्त कराने में अपना सहयोग प्रदान करते हैं अर्थात् आर्तध्यान से तिर्यंच एवं पशुगति, रौद्रध्यान से नरकगति, धर्मध्यान से देव और मनुष्यगति तथा शुक्लध्यान से सिद्धगति की प्राप्ति होती है।

3.9.1 पूर्ण ध्यान किसे हो सकता है ?—

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार तो संसार के प्रत्येक प्राणी को हर समय कोई न कोई ध्यान रहता ही है तथापि इनमें प्रारंभ के दो (आर्त-रौद्र) ध्यान संसार के कारण हैं और "परे मोक्ष हेतू" सूत्र से धर्मध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। धवला ग्रंथ में दशवें गुणस्थान तक भी धर्मध्यान माना है और शुक्लध्यान तो उत्तम संहननधारी महामुनियों के तथा केवली भगवान के ही होता है।

गृहस्थजन भी ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं!—ज्ञानार्णव ग्रंथ में श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि "आकाश में पुष्प खिल सकते हैं और गधे के सींग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।" फिर भी धर्मध्यान की सिद्धि के लिए गृहस्थाश्रम में भी ध्यान का अभ्यास और भावना तो करनी ही चाहिए।

संसार में अनेक प्रकार की भौतिक चिन्ताओं में उलझे मन को कुछ विश्रान्ति देने के लिए श्रावकों को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन ध्यानों का अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि इन पिण्डस्थ आदि ध्यानों की सिद्धि तो कठिन है फिर भी प्रतिदिन किया गया अभ्यास, भावना, संतति और चिंतन इन नामों की सार्थकता को तो प्राप्त कर ही लेता है और कालान्तर में वही अभ्यास ध्यान की सिद्धि में सहायक बन जाता है।

ऊपर कहे गये धर्मध्यान के अंतिम भेद संस्थानविचय के ही ये पिण्डस्थ आदि चार भेद माने गये हैं। सो यहाँ क्रमानुसार पिण्डस्थ ध्यान के बारे में ही बताया जा रहा है।

3.9.2 कहाँ बैठकर ध्यानाभ्यास करें ?—

मन चूँकि अत्यन्त चंचल है अतः उसे नियंत्रित करने एवं ध्यान की ओर उन्मुख करने के लिए जिनमंदिर पूर्ण उपर्युक्त स्थान होते हैं। यदि मंदिर की सुविधा उपलब्ध नहीं है तो घर के किसी एकांत स्थान (पूजाघर-चैत्यालय) में बैठ सकते हैं अन्यथा किसी पार्क आदि खुले स्थान का कोई हिस्सा भी ध्यान करने के लिए उचित रहेगा। जहाँ आप 5 मिनट से लेकर शक्ति अनुसार 1 घण्टे तक भी बैठने में स्वाधीनता और निर्विकल्पता का अनुभव कर सकें उस स्थान का चयन कर लें तथा भूमि पर चटाई या दर्भासन (डाभ का शुद्ध आसन) बिछाकर ध्यान करने हेतु बैठ जावें। केवल भूमि पर बैठकर ध्यान न करें।

ध्यान के समय मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर करें क्योंकि पूर्व से निकलने वाले सूर्य की तेजस्वी किरणों की तरंगे प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों प्रकार से मन-मस्तिष्क को सौर ऊर्जा प्रदान करती हैं जो आत्मा में तेजस्विता के साथ-साथ शारीरिक स्वस्थता को भी देने वाली हैं। इसी प्रकार उत्तर दिशा मनोरथ सिद्धि में सहायक मानी गई है जो अपनी

ओर अभिमुख हुए मानव की समस्त समस्याओं का समाधान करके उसमें नवजीवन का संचार करती है।

किस मुद्रा में बैठें ?—ध्यान के लिए पद्मासन मुद्रा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है वह ब्रह्मचर्य सिद्धि के लिए रामबाण औषधि के समान है। इसके लिए पहले बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखते हैं पुनः दाहिना पैर बायीं जाँघ पर रखकर, बाएँ हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखकर भगवान के समान शांत मुद्रा में बैठकर आँखों को कोमलता से बंद करें।

यदि इस पद्मासन से बैठने में अधिक तकलीफ महसूस हो तो अर्धपद्मासन (बायाँ पैर नीचे और दाहिना पैर उसकी जाँघ पर रखकर) से बैठें अथवा सुखासन से भी बैठकर ध्यानाभ्यास किया जा सकता है।

3.9.3 ध्यान का शुभारंभ ॐ की ध्वनि से करें—

शरीर की सुषुम्ना नाड़ी एवं मस्तक के ब्रह्म भाग को जागृत करने हेतु "ॐ" बीजाक्षर का नाद परम आवश्यक है। ध्यान को प्रारंभ करने हेतु सर्वप्रथम स्थिरतापूर्वक नौ बार इस ॐकार की ध्वनि करें। ध्वनि के उच्चारण में जहाँ कंठ, तालु, होंठ, नासिका आदि इन्द्रिय एवं उपांगों का अवलम्बन लेना होता है, वहीं ध्वनि के उन क्षणों में अपनी अन्तर्दृष्टि नाभिस्थान पर होनी चाहिए। उस समय अनुभव में नाभिस्थान से उठते हुए आध्यात्मिक तेजपुंज की एक लकीर ऊपर उठती हुई धीरे-धीरे ॐ के साथ मस्तक के रन्ध्र (ब्रह्म) भाग तक जाएगी, यही आध्यात्मिक ऊर्जा आत्मिक शक्ति को प्रदान करती है।

ॐ की यह ध्वनि यदि दिन में तीन बार पूर्ण विधि के साथ की जाए तो माइग्रेन, साइनस, ब्लडप्रेशर आदि अनेक बीमारियों का इलाज बिना दवाई लिए हो जाता है। इसके कई साक्षात् उदाहरण भी देखने को मिले हैं।

3.9.4 ॐ ध्वनि के पश्चात् आत्मिक शांति हेतु ध्यान के कुछ सूत्रपदों का उच्चारण करें—

(1) ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहं (शक्तिरूप मे मेरी आत्मा अनन्तज्ञानरूप है)

(2) परमानन्दस्वरूपोऽहं (मेरी आत्मा में परम आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है)

(3) चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहं (शुद्ध चैतन्य स्वभाव से युक्त मेरी आत्मा है)

(4) चिन्मयज्योतिस्वरूपोऽहं (चैतन्य की परमज्योति से मैं समन्वित हूँ)

(5) चिचिंतामणिरूपोऽहं (चैतन्यरूप चिन्तामणिरूप से युक्त मेरी आत्मा है)

(6) शुद्धबुद्धस्वरूपोऽहं (शुद्धबुद्ध स्वभाव से मैं समन्वित हूँ)

(7) नित्यनिरंजनरूपोऽहं (निश्चयनय से समस्त कर्मरूपी अंजनकालिमा से मैं रहित हूँ)

पुनः अपने मन में पूर्ण स्वस्थता का अनुभव करते हुए पिण्डस्थ ध्यान के लिए तैयार हो जाएँ अर्थात् पिण्ड—शरीर में स्थित आत्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। इसमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्वरूपवती ये पाँच धारणाएँ होती हैं।

3.9.5 पार्थिवी धारणा (चित्त की चंचलता में रुकावट)—शरीर पर कम से कम परिग्रह हो और निराकुलचित्त होकर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से चटाई पर बैठकर इस धारणा के अन्तर्गत विचार कीजिए—

मध्यलोक प्रमाण एक राजू (असंख्यातों मील का) विस्तृत बहुत बड़ा गोल क्षीरसमुद्र है अर्थात् जम्बूद्वीप से लेकर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात योजन का क्षीरसागर ध्यान में देखें। दूध के समान सफेद जल से वह समुद्र लहरा रहा है और समुद्र के बीचोंबीच में एक लाख योजन (40 करोड़ मील) विस्तार वाला खिला हुआ एक दिव्य कमल है, जिसमें एक हजार पत्ते हैं, वे सब पत्ते सुवर्ण के समान चमक रहे हैं। कमल के बीच की कर्णिका सुमेरुपर्वत के समान ऊँची उठी हुई है, वह पीले रंग की है और अपनी पराग से दशों दिशाओं को पीतप्रभा से सुशोभित कर रही है।

भव्यात्माओं! जैन आगम की भाषा में ऊपर समुद्र और कमल आदि का प्रमाण बताया है, इसका सारांश यह है कि आप अपने चिन्तन में जितना बड़ा से बड़ा समुद्र देख सकें, देखें और उसके बीच में एक हजार आठ पंखुड़ियों का

कमल देखें। मन को सुमेरु के समान ऊँचा मानकर कमल की कर्णिका को ऊँची उठी हुई देखें।

पुनः आप देखिए कि उस कर्णिका पर एक श्वेत वर्ण का ऊँचा सिंहासन है, उस पर मैं भगवान् आत्मा के रूप में विराजमान होकर ध्यान में तल्लीन हूँ। यहाँ भावों की उच्चता ही कर्मों की निर्जरा कराएगी, आध्यात्मिक ज्योति से आत्मा प्रकाशित हो जायेगी। यही आध्यात्मिक ऊर्जा है जिससे शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्त होती है।

इस समय आप मन ही मन निम्न पंक्तियाँ पढ़ें—

मेरा तनु जिनमंदिर उसमें, मन कमलासन शोभे सुन्दर।
उस पर मैं ही भगवान् स्वयं, राजित हूँ चिन्मय ज्योतिप्रवर।।
मैं शुद्ध बुद्ध हूँ सिद्ध सदृश, कर्मांजन का कुछ लेप नहीं।
मैं नमूँ उसी शुद्धात्मा को, मेरा पर से संश्लेष नहीं।।

(इसके साथ ही शांति और शिथिलता का सुझाव दीजिए। शांत...... शिथिल.......)

अनंतर आप ऐसा चिंतवन कीजिए कि मेरी आत्मा सम्पूर्ण राग-द्वेषमय संसार को और समस्त कर्मों को नष्ट करने में सक्षम है। ऐसा बार-बार विचार करते हुए अपने उपयोग को उसी में तन्मय कर दीजिए। यहाँ ध्यान के निम्न सूत्र पदों को पढ़ लीजिए—

''ज्ञानपुंजस्वरूपोऽहं, नित्यानंदस्वरूपोऽहं, सहजानंदस्वरूपोऽहं, परम-समाधिस्वरूपोऽहं, परमस्वास्थ्यस्वरूपोऽहं।''

इस चिन्तनधारा के साथ प्रथम पार्थिवी धारणा समाप्त हुई और अब द्वितीय धारणा के लिए अगला दिन निर्धारित कीजिए, ताकि एक दिन का अभ्यास दीर्घकालीन न होने पाए अन्यथा मस्तिष्क पर भार अनुभव होने लगेगा।

3.9.6 ''आग्नेयी धारणा'' (कर्मों को जलाने की एक प्रक्रिया)—इस धारणा के अन्तर्गत चिन्तन कीजिए कि मेरे नाभिस्थान में सोलह दलों वाला खिला हुआ एक सफेद कमल है। उस कमल की कर्णिका पर ''र्हँ'' बीजाक्षर पीली केशर से लिखा हुआ देखिए पुनः दिशा के क्रम से प्रत्येक दलों (पत्तों) पर केशर से ही अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, इन सोलह स्वरों को लिख लें। पुनः इन सोलहों स्वर एवं र्हं बीजाक्षर पर अपने मन को केन्द्रित करके इनका ध्यान कीजिए।

मन को अशुभ से शुभ की ओर ले जाने की यह एक उत्तम प्रक्रिया है, उस समय शारीरिक और मानसिक स्थिरता की परम आवश्यकता है अतः चंचल चित्तरूपी बंदर को एकदम अनुशासित रखिए तब आपको ये अक्षर और कर्णिका का महामंत्र स्पष्ट दिखने लगेगा। इसके आगे आप देखें कि इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान पर औंधा मुँह करके (नीचे को लटकता हुआ) एक मटमैले रंग का आठ दल का कमल बना हुआ है, उसके आठों दल पर क्रम से ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तराय इन आठों कर्मों के नाम काले रंग से लिखे हुए हैं।

पुनश्च ध्यान की अगली श्रृँखला में देखें और अनुभव करें कि नाभिकमल की कर्णिका के ''र्हँ'' महामंत्र के रेफ से धुँआ निकल रहा है, कुछ ही क्षणों में उस धुँए में से अग्नि के स्फुलिंगे (चिंगारियाँ) निकलने लगीं तब अग्नि की लौ ऊपर को उठकर आठ कर्म वाले कमल को जलाने लगी और धीरे-धीरे वही अग्नि ज्वाला बनकर मस्तक के ऊपर पहुँच गई, पुनः वह अग्नि त्रिकोणाकार मण्डल के आकार में परिवर्तित हो गईं। अर्थात् अग्नि की एक लकीर मस्तक के दाईं ओर, एक बाईं ओर गई और नीचे दोनों लकीरों के मिल जाने से शरीर का त्रिकोणाकार अग्निमंडल बन जाता है। इस समय यह चिन्तन करें कि धधकती हुई यह अग्नि अंदर में तो कमलों को जला रही है और बाहर में औदारिक शरीर को भस्म कर रही है।

चिन्तन के इन क्षणों में घबराहट बिल्कुल नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस ध्यान के माध्यम से अनेक भवों में संचित

पापकर्म तो नष्ट होंगे ही, साथ में तमाम शारीरिक रोगों का विनाश होकर स्वस्थता का अनुभव भी होगा।

अब आगे देखें कि अग्निमंडल के त्रिकोणाकार की तीनों लकीरों में "रं रं रं" ऐसे अग्निबीजाक्षर लिखे हुए हैं और तीनों कोणों पर स्वस्तिक बने हैं तथा स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में "ॐ र्रं" ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। पुनः चेतावनी दी जा रही है कि जलती हुई अग्नि को देखकर मन को विचलित नहीं करना है क्योंकि आत्मा चिच्चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है, अत: अग्नि के द्वारा वह कभी जल नहीं सकती है, यह तो अशुभ कर्मों को जलाने का एक तरीका है और इसमें सफलता प्राप्त करते ही आपको परम स्वस्थता की अनुभूति होगी।

इस धारणा में ध्यान की समापन बेला में अब पुनः देखिए कि वह अग्नि धीरे-धीरे शांत हो गई है, जिससे हमारी आत्मा पर राख का पुंज इकट्ठा हो गया है। पुनः पाँच दीर्घ श्वांस लेते हुए आज के ध्यान को तीन बार निम्न वाक्य बोलते हुए समाप्त कीजिए-

"मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मुझे कोई रोग नहीं है।"

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान के प्रकरण में दो धारणाओं का यहाँ वर्णन किया गया है।

3.9.7 अब इसी शृँखला में प्रस्तुत हैं पिण्डस्थ ध्यान की अगली धारणाएँ—

1. सर्वप्रथम आप मंदिरजी की स्वाध्यायशाला में अथवा घर के किसी एकांत स्थान में स्थिरचित्त होकर ध्यान के लिए पद्मासन, अर्धपद्मासन या सुखासन से बैठकर आँखें कोमलता से बंद करें।

2. बाएँ हाथ की हथेली पर दाएँ हाथ की हथेली रखकर शरीर को तनावमुक्त करें। पृष्ठरज्जु बिल्कुल सीधी हो, न अधिक अकड़न न अधिक झुकाव हो किन्तु निराकुल, शान्तचित्त होकर बैठें।

3. इसके पश्चात् ॐ की नव बार ध्वनि निकालते हुए दीर्घ श्वांस का अभ्यास करें। पुनः मानसिक स्थिरता के लिए ध्यान के कुछ सूत्रपदों का उच्चारण कीजिए—

अनन्तज्ञानस्वरूपोऽहं, अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहं, अनन्तवीर्यस्वरूपोऽहं, सहजानन्दस्वरूपोऽहं

अब ध्यान की धारा में अपने चित्त को प्रवाहित कीजिए और पार्थिवी तथा आग्नेयी धारणा के अन्तर्गत जो-जो आपने चिन्तन किया था कि क्षीरसागर के मध्य ऊँचे कमल की कर्णिका पर एक सिंहासन के ऊपर मैं एक स्वच्छ अन्तरात्मा के रूप में विराजमान हूँ और चिन्तन के आधार पर मुझे अपने को परमात्मा बनाना है।

3.9.8 श्वसना (वायवी) धारणा—अब आप देखिए कि आकाश में चारों तरफ से प्रलयकारी तेज हवा चलने लगी। यह हवा मेरुपर्वत को भी प्रकम्पित कर देने को आतुर है किन्तु आप चिन्ता मत कीजिए क्योंकि आपकी ध्यानस्थ आत्मा को यह वायु अणुमात्र भी हिला नहीं सकती है। वायुमण्डल गोल आकाररूप से परिणत हो गया है, इस मण्डल में जगह-जगह 'स्वाय-स्वाय' ये वायु के बीजाक्षर सफेद रंग से लिखे हैं।

आगे देखें कि वह प्रलयंकारी वायु मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई है और वह त्रिकोणाकार शरीर पर ढ़की हुई भस्म ढाक को उड़ा रही है अर्थात् इस हवा से कर्मों की रज उड़ गई और आत्मा स्वच्छ हो गई है। इस वायवी धारणा के समय निम्न मंत्र का चिन्तन कीजिए—

"ॐ ह्रीं अर्हम् श्रीजिनप्रभंजनाय कर्मभस्मविधूननं कुरू कुरू स्वाहा"

पुनः अनुभव करें कि यह वायु रुक गई है और हवा की हलचल समाप्त हो गई है। मैं अब ज्ञान का पुंज बन गया हूँ, सम्पूर्ण अज्ञानता मेरे हृदय से दूर हट गई है।

इतना चिन्तन भी आपको बहुत शांति तथा सुख प्रदान करेगा अत: मात्र यह अनुभव कीजिए कि मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ मुझे कोई रोग नहीं है। तीन बार पुनः महामंत्र का स्मरण करते हुए तीन बार दीर्घ स्वासोच्छ्वास लें और आँख खोलकर, हाथ जोड़कर, पंचपरमेष्ठियों को नमन करते हुए निम्न पद्य बोलें—

संसार के भ्रमण से अति दूर हैं जो,
ऐसे जिनेन्द्रपद को नित ही नमूँ मैं।
सम्पूर्ण सिद्धगण को सब साधुओं को,
वंदूँ सदा सकल कर्म विनाश हेतू।।1।।

पुनः अगली वारुणी धारणा में प्रवेश करें।

3.9.9 वारुणी धारणा—अब चिन्तन करें कि आकाश में बादल छा गए हैं, बिजली चमक रही है और देखते ही देखते मूसलाधार बरसात शुरू हो गई। आकाशमण्डल में चारों ओर ''पं पं पं'' बीजाक्षर लिखे हुए हैं।

वर्षा की अमृत सदृश बूँदें मेरी आत्मा का प्रक्षालन कर रही हैं। इस दृश्य का चिन्तन करते हुए निम्न मंत्र पढ़ें—

''ॐ ह्रीं अर्हम् श्रीजिनपर्जन्याय कर्ममलप्रक्षालनं कुरू कुरू स्वाहा।''

इस प्रकार वर्षा से शुद्ध होकर मेरी आत्मा स्फटिक के समान शुद्ध हो रही है। मंत्र पढ़िए—ॐ ह्रीं शुद्धात्मने नमः, ॐ ह्रीं विश्व-रूपात्मने नमः, ॐ ह्रीं परमात्मने नमः। अब आगे पंचम तत्त्वरूपवती धारणा का अवलम्बन लीजिए—

3.9.10 तत्त्वरूपवती धारणा—उपर्युक्त मंत्रों के उच्चारण के पश्चात् शरीर में शिथिलता एवं शांति का सुझाव देते हुए मन को स्थिर करें पुनः चिन्तन करें कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित पूर्णचन्द्र के समान प्रभाव वाली सर्वज्ञ के सदृश बन गई है। अब मैं अतिशय से युक्त, पंचकल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव, धरणेन्द्र आदि से पूजित हो गया हूँ। अनन्तर मैं आठ कर्मों से रहित निर्मल पुरुषाकार नित्य निरंजन परमात्मा बन गया हूँ। यह चिन्तन करते-करते आप पिण्डस्थ ध्यान की चरम सीमा तक पहुँच गए हैं।

अपने पिण्ड—शरीर के अंदर स्थित आत्मा का ध्यान ही पिण्डस्थ ध्यान है। इसका निश्चल ध्यान करने वाले योगीजन अन्य लोगों से दुःसाध्य ऐसे मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेते हैं तो अन्य शारीरिक सुखों की तो बात ही क्या है। जिस प्रकार से सूर्य के उदित होते ही उल्लू पलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार से इस पिण्डस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने पर विद्या, मण्डल, मंत्र, यंत्र, इंद्रजाल के आश्चर्य, सिंह, सर्प तथा दैत्य आदि निःसारता को प्राप्त हो जाते हैं एवं भूत, पिशाच, ग्रह, राक्षस आदि कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसा इस ध्यान का अचिन्त्य प्रभाव जानना चाहिए।

मेरे हृदयाम्बुज में नितप्रति, चिन्मय ज्योति भगवान रहे।
मेरे अन्तर में आनंदघन, अमृतमय पूर्ण प्रवाह बहे।।
वह ही आनन्द घनाघन हो, कलिमल को दूर करे क्षण में।
सब दूरित सूर्य का ताप शमन, कर शाश्वत शांति भरे मुझमें।।

पुनः आँखें खोलकर हाथ जोड़कर परमात्मा को नमन करते हुए ध्यान को सम्पन्न कीजिए।

अब पदस्थ ध्यान का वर्णन प्रारंभ किया जाता है।

3.10 पदस्थ ध्यान की विधि—

पवित्र मंत्रों के अक्षर पदों का अवलम्बन लेकर उसमें तल्लीन हो जाना पदस्थ ध्यान कहलाता है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं, जो कि विभिन्न मंत्रों पर आधारित हैं।

पिण्डस्थ ध्यान को पदस्थ से पूर्व क्यों बतलाया है ?—गृहस्थाश्रम के अनेकों प्रपंचों में उलझे हुए मन को कोई भी एक मंत्र पर किंचित् क्षण के लिए भी टिका नहीं सकता है और मन को खाली बैठना भी आता नहीं, अतः वह इधर-उधर के चक्कर में ही पुनः घूमने लगता है अतः उसके लिए जितनी भी सामग्री दी जाएगी, उतना ही अच्छा है, क्योंकि उतनी देर तक तो कम से कम वह बाहर के विषयों से अपने को हटाकर इन धारणाओं के चिन्तन में ही उलझेगा तो अच्छा ही है। यदि एक पद पर ही मन को स्थिर करना सरल होता तो आचार्य पहले पदस्थ ध्यान को कहकर फिर

पिण्डस्थ को कहते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्डस्थ ध्यान का ही पहले अभ्यास करना चाहिए। अनन्तर उसमें परिपक्व हो जाने के बाद पदस्थ ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

पदस्थ ध्यान कैसे प्रारंभ करें ?—

सर्वप्रथम आप शुद्ध मन से शुद्ध वस्त्र धारण कर किसी एकांत स्थान अथवा पार्क जैसे खुले स्थान पर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से बैठ जाएं। शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त समस्त परिग्रह को त्यागकर स्वाधीनता का अनुभव करते हुए तन-मन में शिथिलता का सुझाव दें और हाथ जोड़कर प्रार्थना करें—

तर्ज —मैं चंदन बनकर तेरे.......

हे प्रभु! मैं अपने आतम में ऐसा रम जाऊँ।
संसार के बंधन से मैं मुक्त हो जाऊँ।।हे प्रभु.।।
संकल्प विकल्पों का यह सागर संसार है।
सागर की तरंगों से अब, मैं ऊपर उठ जाऊँ।। हे प्रभु.।।1।।
दु:खों की पर्वतमाला कब टूट पड़ेगी मुझ पर।
उस पर्वत पर हे भगवन्! मैं कैसे चढ़ पाऊँ।।हे प्रभु.।।2।।
आतम सुख के अमृत में मैं डूब गया अब स्वामी।
उसका आस्वादन लेकर, ''चन्दना'' सहज सुख पाऊँ।।हे प्रभु.।।3।।

इसके पश्चात् बाएँ हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रखकर, आँखें कोमलता से बंद करके भगवान् के समान शान्तमुद्रा में बैठ जाएं और ॐकार का नाद करते हुए निम्न मंत्रों का उच्चारण करते हुए आत्मशांति का अनुभव करें—

1. ॐ अर्हत्स्वरूपोऽहं **2. ॐ तीर्थस्वरूपोऽहं**
3. ॐ जिनस्वरूपोऽहं **4. ॐ सिद्धस्वरूपोऽहं**
5. ॐ आत्मस्वरूपोऽहं

पुन: अपनी अन्तर्यात्रा प्रारंभ कर दें, इस यात्रा का लक्ष्य बिन्दु है— ॐ बीजाक्षर। कल्पना कीजिए कि मेरे ठीक सामने केशरिया वर्ण का एक ''ॐ'' मंत्र विराजमान है। इसी ॐ पर मन को केन्द्रित करें, ॐ के प्रत्येक अवयव में केशरिया रंग भरा हुआ देखें। अनुभव करें.....मन को बाहर न जाने दें.....शिथिलता का सुझाव देते हुए ध्यान की अगली शृँखला में प्रवेश करें और चिन्तन करें कि—

''ॐ'' यह प्रणवमंत्र है, यह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र समस्त द्वादशांग का वाचक है। इसमें यथास्थान पाँचों परमेष्ठियों को विराजमान करते हुए उनके दर्शन करें— ॐ के अंदर प्रथम सिरे पर ''अरिहंत'' भगवान् को देखें और ''णमो अरिहंताणं'' पद का स्मरण करते हुए भावों से ही अरिहंत परमेष्ठी को नमन करें और आगे चलें अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला पर, जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं। आठों कर्मों से रहित, निराकार-अशरीरी सिद्ध भगवान की प्रतिमा पर मन को एकाग्र करते हुए आप ''णमो सिद्धाणं'' पद का स्मरण करें और उन्हें नमन करते हुए अपने मनवांछित कार्य की सिद्धि करें।

पुनश्च तीसरे परमेष्ठी आचार्य देव हैं उनके दर्शन करने के लिए ॐ के मध्य भाग पर मन को लाएं और चिन्तन करें कि पिच्छी-कमण्डलु से सहित एक दिगम्बर मुनिराज यहाँ विराजमान हैं, ये ही चतुर्विध संघ के नायक आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमन (भावों से ही) करें और ''णमो आइरियाणं'' पद का मानसिक उच्चारण करते हुए ''ॐ'' की मात्रा अर्थात् बड़े ऊ के आकार में लिखा गया जो ओकार है उसमें चतुर्थ उपाध्याय परमेष्ठी को दिगम्बर मुनि मुद्रा में अध्ययन-अध्यापन करते हुए देखें। इनके दर्शन से अज्ञान का नाश एवं ज्ञान का विकास होगा, ''णमो उवज्झायाणं'' के उच्चारणपूर्वक उनके चरणों में नमस्कार करें और अंतिम परमेष्ठी सर्वसाधुओं के दर्शन करने हेतु

"ॐ" के निचले भाग में अपनी यात्रा का पड़ाव डालें। पुनः चिन्तन करें कि यहाँ सामायिक अवस्था में लीन महान सन्त-साधु विराजमान हैं, जो संसार, शरीर, भोगों से पूर्ण विरक्त हैं। उनके दर्शन करते हुए मन को केन्द्रित कर दें उनकी वीतरागी मुद्रा पर और निम्न पंक्तियाँ पढ़ते हुए तल्लीन हो जाएँ, ताकि मन कहीं बाहर न जाने पावे—

हे गुरुवर! तेरी प्रतिमा ही, तेरा अन्तर दर्शाती है।
यह नग्न दिगम्बर मुद्रा ही, प्राकृतिक रूप दर्शाती है।।

अर्थात् जिनकी काया से ही बिना कुछ बोले ही मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन हो रहा है ऐसे साधु परमेष्ठी के चरणों में नतमस्तक होकर "णमो लोए सव्वसाहूणं" का उच्चारण करें और अपनी आत्मा में ये विलक्षण आध्यात्मिक ऊर्जा की प्राप्ति का अनुभव करें। दो मिनट के लिए मन को यहीं स्थिर कर दें, शरीर में शिथिलता एवं शांति का सुझाव दें, पुनश्च—

परमेष्ठियों की शक्ति से समन्वित अनन्तशक्तिमान् ॐ मंत्र के चारों ओर एक गोलाकार से निकलती हुई सूर्य की किरणों का दर्शन करें अर्थात् एक सूर्यबिम्ब में विराजमान ॐ बीजाक्षर पर चित्त को केन्द्रित करें, तब सूर्य जैसा प्रकाश मन-मस्तिष्क में भरता महसूस होगा एवं उस समय अनुभव करें—

"मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मुझे कोई रोग नहीं है" (तीन बार इस वाक्य को बोलें) पुनः महामंत्र के स्मरणपूर्वक तीन बार दीर्घ श्वासोच्छ्वास लें और आँखों को अभी बंद रखते हुए ही निम्न श्लोक का उच्चारण करें—

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धा कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्।।

इस मंगलपाठ के अनन्तर हाथ जोड़कर पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करते हुए आँखें खोलें। इस प्रकार पदस्थ ध्यान में ॐ बीजाक्षर की यह संक्षिप्त ध्यान प्रक्रिया बतलाई गई है। आगे इसी तरह से ह्रीं, क्लीं, अर्हं, अहिआउसा आदि बीजाक्षरों को भी अपने उत्तमांगों में स्थापित करके इनका ध्यान भी किया जा सकता है।

3.11 ध्यान की उपयोगिता—

स्वास्थ्य का पहला लक्षण मेरुदण्ड लचीला और स्वस्थ रहे। मेरुदण्ड को लचीला रखने के लिए मेरुदण्ड की क्रियाएँ और सीधा बैठना आवश्यक है। मेरुदण्ड के मात्र सीधा रहने से प्राण-धारा का सन्तुलन होने लगता है, जिससे व्यक्ति शक्तिशाली और प्राणवान बनता है। दीर्घ श्वांस से एकाग्रता आती है और गुस्सा शांत होता है। योगनिद्रा से तनाव में कमी और शांति मिलती है। विधायक सोच और मंगल भावना से मैत्री का विकास होता है। योग और मुद्राओं से स्वभाव बदलता है।

ह्रीं क्या है ? ह्रीं एक बीजाक्षर वर्ण है। इस एक ह्रीं के अन्दर चौबीस तीर्थंकर समाहित हैं, जो कि भिन्न-भिन्न वर्ण के हैं—

वरनाद द्वितीया चंद्र सदृश, बिंदू नीली है कला लाल।
ईकार हरित ह्र पीत इन्हीं में, उन-उन वर्णी जिन कृपालु।।
चंद्रप्रभु पुष्पदंत शशि में, बिन्दू में नेमी मुनिसुव्रत।
श्री पद्मप्रभु जिन वासुपूज्य हैं, कमलवर्ण सम कलामध्य।।1।।
ई मात्रा मध्य सुपार्श्व पार्श्व, ह्र बीज में सोलह तीर्थंकर।
ऋषभाजित संभव अभिनन्दन, सुमती शीतल श्रेयोजिनवर।।
श्री विमल अनंत धर्म शांति, कुंथू अर मल्लि नमी सन्मति।
ये ह्रीं मध्य चौबिस जिनवर, इनको वंदूँ ध्याऊँ नितप्रति।।2।।

3.12 ह्रीँ के ध्यान की विधि—

सर्वप्रथम आप शुद्धमन से शुद्धवस्त्र धारण कर किसी एकांत स्थान अथवा पार्क जैसे खुले स्थान पर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से बैठ जाएँ। शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त समस्त परिग्रह को त्याग कर स्वाधीनता का अनुभव करते हुए तन-मन में शिथिलता का सुझाव दें और हाथ जोड़कर प्रार्थना कीजिए—

तर्ज —आवाज देकर तुम्हें......

चलो मन को अन्तर की यात्रा कराएँ।
भटकते विचारों को मन से हटाएँ।।

मेरी आतमा सत्य शिव सुन्दरम् है।
कुसंगति से उसमें हुआ मति भरम है।।
पुरुषार्थ कर शुद्ध आतम को ध्याएँ।
भटकते विचारों को मन से हटाएँ।।1।। चलो......

न हम हैं किसी के न कोई हमारा।
सभी से जुदा आतमा है निराला।।
उसे 'चन्दना' खोज करने से पाएँ।
भटकते विचारों को मन से हटाएँ।।2।। चलो.....

इसके पश्चात् बाएँ हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रखकर आँखें कोमलता से बंद करके भगवान के समान शांत मुद्रा में बैठ जाएँ और ॐकार का नाद करते हुए निम्न मंत्रों का उच्चारण करते हुए आत्मशांति का अनुभव करें—

1. श्री सुखसम्पन्नोऽहं 2. ह्री गुणसम्पन्नोऽहं 3. धृतिगुणसम्पन्नोऽहं 4. श्रीगुणसम्पन्नोऽहं 5. कीर्तिसम्पन्नोऽहं

पुनः अपनी अन्तर्यात्रा प्रारंभ कर दें, इस यात्रा का लक्ष्य बिन्दु है— ह्रीं बीजाक्षर। चौबीस तीर्थंकरों को नमन करते हुए ध्यान का प्रथम चरण प्रारंभ करें—

1. ध्यान का प्रथम चरण—सबसे पहले चित्त के द्वारा 'ह्रीं' पद लिखें। ह्र, ई की मात्रा, कला (लाइन) चन्द्राकार, बिन्दु। पूरा ह्रीं देखें......अनुभव करें......दिख रहा है। शांत....दर्शन करें। (2 मिनट)

2. ध्यान का द्वितीय चरण—यह ह्रीं पद पाँच रंगों से युक्त है। कहाँ कौन सा वर्ण है, देखें....लाल वर्ण की कला देखकर पुनः सर्वप्रथम पीत वर्ण का ह्र देखें। दो लाइनों में लिए गए ह्र के अन्दर तपाए हुए स्वर्ण के समान पीला-पीला रंग भरा हुआ है। देखें....अनुभव करें....दिख रहा है। शांत.....दर्शन (1 मिनट)

पुनः ईकार की मात्रा हरे रंग की देखें। दो लाइनों में खींची गई इस मात्रा के अन्दर मरकत मणि के समान हरा रंग भरा हुआ है। देखें.....दिख रहा है.....अनुभव करें....शांत....दर्शन (1 मिनट)

इसके पश्चात् लाइन (कला) लाल वर्ण की देखें। दो लाइनों से युक्त इस कला के अंदर मूंगे के समान लाल-लाल रंग भरा हुआ है। देखें....अनुभव करें......दिख रहा है.....शांत.....दर्शन (1 मिनट)

अब आगे चित्त को सभी बाह्य विकल्पों से खींच कर अन्दर की ओर ले आएं और ह्रीं के दाईं ओर ऊपर श्वेत वर्ण का अर्ध चन्द्र देखें। चमकता हुआ अर्ध चन्द्रमा बिल्कुल दूध जैसा सफेद। अनुभव करते हुए देखें.....दिख रहा है। इस चन्द्रमा को देखने से चित्त— हृदय धवल चाँदनी के सदृश स्वच्छ— निर्मल हो जाएगा। शांत....दर्शन (1 मिनट)

यह पूरी पंचवर्णी ह्रीं एक बार पूरी तौर से देख जाएं। शांत....दर्शन।

ध्यान का तृतीय चरण—पंचवर्णी ह्रीं में क्रम-क्रम से चौबीसों तीर्थंकर विराजमान करें। सर्वप्रथम पीले 'ह्र' के अंदर पीतवर्ण के सोलह तीर्थंकर हैं। देखें.....ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, शीतल, श्रेयांस, विमल, अनंत,

धर्म, शांति, कुंथु, अरह, मल्लि, नमि और वर्धमान। चित्त को एकाग्र करके सोलह तीर्थंकरों को देखने का प्रयास करें। देखें....दिख रहे हैं....शांत......।

पुनः हरी ईकार मात्रा के अन्दर हरितवर्ण के 2 तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ को विराजमान करें। देखें......अनुभव करें। दिख रहा है....शांत.....दर्शन।

इसके पश्चात् क्रमानुसार लालवर्ण की कला (लाइन) के अंदर लाल वर्ण के दो तीर्थंकर पद्मप्रभु और वासुपूज्य भगवान को विराजमान करें। देखें.....अनुभव करें......शांत.....दिख रहा है।

अब श्वेत वर्ण के अर्ध चन्द्र में चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत इन दो तीर्थंकरों को विराजमान करके देखें। शांत.....देखें.......दिख रहा है।

अन्त में नीली बिन्दु में नीलवर्ण के तीर्थंकर नेमिनाथ, मुनिसुव्रत को विराजमान करें। देखें......दिख रहा है।

इस प्रकार क्रम से पूरी पंचवर्णी ह्रीं के अंदर क्रम-क्रम से विराजमान समस्त तीर्थंकरों को एक बार देख जाएं। शांत......शांत......। चित्त की यात्रा पूरी होने वाली है। देखें....अनुभव करें......पूरा ह्रीं दिख रहा है।

ध्यान का अंतिम चरण—'मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ मुझे कोई रोग नहीं है' (तीन बार इस वाक्य को बोलें) पुनः महामंत्र के स्मरणपूर्वक तीन बार दीर्घ श्वासोच्छ्वास लें। श्वांस छोड़ते समय पेट अन्दर और श्वांस भरते समय पेट बाहर और आँखों को अभी बंद रखते हुए निम्न श्लोक का उच्चारण करें—

शिवं शुद्ध बुद्धं, परं विश्वनाथम्।
न देवो न बन्धुः न कर्ता न कर्म।।
न अंगं न संगं न इच्छा न कायं।
चिदानंद रूपं नमो वीतरागम्।।

इस मंगलपाठ के अनन्तर हाथ जोड़कर पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करते हुए आँखें खोलें। इस प्रकार पदस्थ ध्यान में ह्रीं बीजाक्षर की यह संक्षिप्त ध्यान प्रक्रिया बतलाई गई है।

आप उपर्युक्त ध्यान प्रक्रिया से शारीरिक एवं आत्मिक लाभ प्राप्त करें, यही हार्दिक भावना है।

इस पदस्थ ध्यान में इन मंत्रों का ध्यान करना ही कहा है अर्थात् इन मंत्रों को हृदय, ललाट, नाभि, मस्तक, कंठ आदि स्थानों में स्थापित करके उस पर उपयोग को स्थिर करना चाहिए।

जाप्य—यदि आप ऐसा ध्यान करने में असमर्थ हैं तो आप इन मंत्रों की जाप्य भी कर सकते हैं। जाप्य करने के वाचक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद हैं। वाचक जाप में शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होता है। उपांशु में भीतर ही भीतर शब्द कंठ स्थान में गूंजते रहते हैं बाहर नहीं निकल पाते हैं किन्तु मानस जाप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है, हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यही क्रिया ध्यान का रूप धारण करती है। वाचिक जाप से सौगुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा अधिक पुण्य मानस जाप से होता है।

महामंत्र के जाप में प्राणायाम विधि का विधान है अर्थात् णमोकार मंत्र के तीन अंश करिये ''णमो अरहंताणं'' इस पद के उच्चारण के साथ श्वांसवायु को अंदर ले जाएये और ''णमो सिद्धाणं'' इस पद के उच्चारण के साथ श्वांस वायु को बाहर निकालिये। इसी तरह 'णमो आइरियाणं' में श्वांस खींचना और 'णमो उवज्झायाणं' में श्वास को छोड़ना तथा 'णमो लोए' में श्वांस लेना और 'सव्व साहूणं' पद में छोड़ना। इस तरह एक गाथा महामंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं।

मुनियों की देववंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रत्येक क्रियाओं में स्वासोच्छ्वास की गणना से ही महामंत्रपूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान है तथा श्रावकों के लिए भी ऐसा ही विधान है अतः इस महामंत्र का नव बार जाप करने से 27 श्वासोच्छ्वास होते हैं एवं 108 जाप करने से 300 श्वासोच्छ्वास हो जाते हैं। यह महामंत्र सर्वश्रेष्ठ अपराजित मंत्र है।

ऐसे ही 'अरहंत सिद्ध' 'अ सि आ उ सा' 'नमः सिद्धेभ्य:' आदि अनेकों मंत्र हैं।

शांति मंत्र—ॐ ह्रीं श्री शांतिनाथाय जगत् शांतिकराय सर्वोपद्रव शांतिं कुरु कुरु ह्रीं नमः।

शांति की इच्छा करते हुए सदैव इस मंत्र का जाप करना चाहिए। अंगुलियों पर जाप करना या मणियों की अथवा सूत की माला पर भी जाप करना चाहिए। प्लास्टिक या लकड़ी की माता से जाप नहीं करना चाहिए। यह जाप पदस्थ ध्यान नहीं है किन्तु उस ध्यान के लिए प्रारंभिक साधन मात्र है।

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानों का अभ्यास करते हुए शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है।

3.13 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-ध्यान का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 2-ध्यान के प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-धर्मध्यान के भेदों का उल्लेख करिये ?

प्रश्न 4-शुक्ल ध्यान के भेदों के नाम बताइये ?

प्रश्न 5-आग्नेयी धारणा को समझाइये ?

प्रश्न 5-ध्यान की विधि का संक्षेप में उल्लेख करिए ?

पाठ-4 – सल्लेखना

4.1 क्या है सल्लेखना ?-

'सल्लेखना' (सत् + लेखना) अर्थात अच्छी तरह से काय और कषायों को कृश करने को 'सल्लेखना' कहते हैं। इसे ही समाधिमरण भी कहते हैं। मरणकाल समुपस्थित होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देह त्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है। जैन साधक मानव–शरीर को अपनी साधना का साधन मानते हुए, जीवनपर्यन्त उसका अपेक्षित रक्षण करता है किन्तु अत्यधिक दुर्बलता अथवा मरण के अन्य कोई कारण उपस्थित होने पर जब शरीर उसके संयम में साधक न होकर बाधक दिखने लगता है, उसे अपना शरीर अपने लिए ही भारभूत सा प्रतीत होने लगता है, तब वह सोचता है कि यह शरीर तो मैं कई बार प्राप्त कर चुका हूं। इसके विनष्ट होने पर भी यह पुनः मिल सकता है। शरीर के छूट जाने पर मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होगा किन्तु जो व्रत, संयम और धर्म मैंने धारण किए हैं यह मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं। बड़ी दुर्लभता से इन्हें मैंने प्राप्त किया है। इनकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। इन पर किसी प्रकार की आंच न आए ऐसे प्रयास मुझे करना चाहिए, ताकि मुझे बार–बार शरीर धारण न करना पड़े और मैं अपने अभीष्ट सुख को प्राप्त कर सकूं। यह सोचकर वह बिना किसी विषाद के (चित्त की प्रसन्नतापूर्वक) आत्मचिन्तन के साथ आहारादिक का क्रमशः परित्याग कर देहोत्सर्ग करने को उत्सुक होता है, इसी का नाम 'सल्लेखना' है।

4.2 सल्लेखना का उद्देश्य-

सूरज और चाँद के उदय और अस्त होने की तरह जन्म और मृत्यु प्रकृति के शाश्वत नियम हैं। जन्म लेने वाले का मरण सुनिश्चित है। संसार में कोई व्यक्ति अमर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना पड़ता है। इस मृत्यु से अपरिचित रहने के कारण व्यक्ति उसके नाम से ही डरते हैं। उससे बचने के अनेक उपाय करते हैं किन्तु बड़ी–बड़ी औषधि, चिकित्सा, मन्त्र–तन्त्र आदि का प्रयोग करने के बाद भी कोई बच नहीं सकता। बड़े–बड़े महाबली योद्धाओं का बल भी इस कालबली के सामने निरर्थक सिद्ध होता है और एक दिन सभी इस काल के गाल में समाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझने वाला जैन साधक मृत्यु को भी मृत्यु महोत्सव में बदल देता है। वह यह सोचता है कि मरने से तो कोई बच नहीं सकता, चाहे वह राजा हो या रंक, पंडित हो या मूर्ख, धनी हो या निर्धन, सभी को मरना है। यदि मैं प्रसन्नतापूर्वक मरता हूं तो भी मुझे मरना है और यदि विषादपूर्वक मरता हूं तो भी मुझे मरना है। जब सब परिस्थितियों में मरण अनिवार्य और अपरिहार्य है तो मैं ऐसे क्यों न मरूं कि मेरा सुमरण हो जाए। इस मरण का ही मरण हो जाए। यह सोचकर वह सल्लेखना या समाधिमरण धारण कर लेता है।

4.3 सल्लेखना आत्मघात नहीं-

देह त्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्मघात कहते हैं किन्तु सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जैनधर्म में आत्मघात को पाप, हिंसा एवं आत्मा का अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और सल्लेखना दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है, जबकि सल्लेखना परम उत्साह से सम भाव धारण कर की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, तो सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, वह तो दीपक के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, अनुपयुक्तता, भारभूतता अथवा मरण के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है;

जबकि आत्मघात जीवन के किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणामों में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है; तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सद्भाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है; तो सल्लेखना निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है; तो सल्लेखना के ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अपने सद्गुणों की रक्षा का है, अपने जीवन के निर्माण का है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना है तो दूसरे का लक्ष्य जीव को संवारने/संभालने का है।

आचार्य श्री 'पूज्यपाद' स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि— किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तु रखी हो और कदाचित् भीषण अग्नि से वह जलने लगे तो वह येन–केन–प्रकारेण उसे बुझाने का प्रयास करता है। पर हर संभव प्रयास के बाद भी जब बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसने तो अपनी ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, किंतु जब रक्षा असंभव हो गयी तो एक कुशल व्यक्ति के नाते बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ही उसका कर्त्तव्य बनता है। इसी प्रकार रोगादिकों से आक्रांत होने पर एकदम से सल्लेखना नहीं ली जाती। वह तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझ यथासंभव उसका योग्य उपचार/प्रतिकार करता है, किन्तु पूरी कोशिश करने पर भी जब वह असाध्य दिखता है और वह नि:प्रतिकार प्रतीत होता है तो उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत हो, समभावपूर्वक मृत्युराज के स्वागत में तैयार हो जाता है।

सल्लेखना को आत्मघात नहीं कहा जा सकता। वह तो देहोत्सर्ग की तर्कसंगत और वैज्ञानिक पद्धति है, जिससे अमरत्व की उपलब्धि होती है। सल्लेखना की इसी युक्तियुक्तता एवं वैज्ञानिकता से प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी के विख्यात संत 'विनोबा भावे' ने जैनों की इस साधना को अपनाकर सल्लेखनापूर्वक देहोत्सर्ग किया था।

4.4 सल्लेखना का महत्त्व—

सल्लेखना को साधक की अंत:क्रिया कहा गया है। अंतक्रिया यानि मृत्यु के समय की क्रिया को सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके सन्यास धारण करना, यही जीवन— भर के तप का फल है। जिस प्रकार वर्ष— भर विद्यालय में जाकर विद्या— अध्ययन करने वाला विद्यार्थी यदि परीक्षा के वक्त विद्यालय नहीं जाता, तो उसकी वर्ष— भर की पढ़ाई निरर्थक रह जाती है। उसी प्रकार जीवन भर साधना करते रहने के उपरांत भी यदि सल्लेखनापूर्वक मरण नहीं हो पाता तो उसका वांछित फल नहीं मिल पाता, इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना जरूर से जरूर करनी चाहिए। मुनि और श्रावक दोनों के लिए सल्लेखना अनिवार्य है। यथाशक्ति इसके लिए प्रयास करना चाहिए। जिस प्रकार युद्ध का अभ्यासी पुरुष रणांगण में सफलता प्राप्त करता है उसी प्रकार पूर्व में किए गए अभ्यास के बल से ही सल्लेखना सफल हो पाती है अत: जब तक इस भव का अभाव नहीं होता तब तक हमें प्रतिसमय 'समतापूर्वक मरण हो' इस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहिए। वस्तुत: सल्लेखना के बिना साधना अधूरी है। जिस प्रकार किसी मंदिर में निर्माण के बाद जब तक उस पर कलशारोहण नहीं होता, तब तक वह शोभास्पद नहीं लगता, उसी प्रकार जीवन भर की साधना, सल्लेखना के बिना अधूरी रह जाती है। सल्लेखना साधना के मंडप में किया जाने वाला कलशारोहण है।

4.5 सल्लेखना की विधि-

सल्लेखना या समाधि का अर्थ एक साथ सब प्रकार के खान–पान का त्याग करके बैठ जाना नहीं है अपितु उसका एक निश्चित क्रम है। उस क्रम का ध्यान रखकर ही सल्लेखना करनी/करानी चाहिए। इसका ध्यान रखे बिना एक साथ ही सब प्रकार के खान–पान का त्याग करा देने से साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। कभी–कभी तो उसे अपने लक्ष्य से च्युत भी हो जाना पड़ता है अत: साधक को किसी भी प्रकार की

आकुलता न हो और वह क्रमशः अपनी काय और कषायों को कृश करता हुआ, देहोत्सर्ग की दिशा में आगे बढ़े, इसका ध्यान रखकर ही सल्लेखना की विधि बनायी गयी है।

सल्लेखना की विधि में सर्वप्रथम कषायों को कृश करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि साधक को सर्वप्रथम अपने कुटुम्बियों, परिजनों एवं मित्रों से स्नेह, अपने शत्रुओं से वैर तथा सब प्रकार के बाह्य पदार्थों से ममत्व का शुद्ध मन से त्यागकर, मिष्ट वचनों के साथ अपने स्वजनों और परिजनों से क्षमायाचना करनी चाहिए तथा अपनी ओर से भी उन्हें क्षमा करनी चाहिए। उसके बाद किसी योग्य गुरु (निर्यापकाचार्य) के पास जाकर कृत कारिता, अनुमोदना से किए गए सब प्रकार के पापों की छलरहित आलोचना कर, मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करना चाहिए। (यदि गृहस्थ हो तो) उसके साथ ही उसे सब प्रकार के शोक, भय, संताप, खेद, विषाद, कालुष्य, अरति और अशुभ भावों को त्याग कर अपने बल, वीर्य, साहस और उत्साह को बढ़ाते हुए गुरुओं के द्वारा सुनाई जाने वाली अमृतवाणी से अपने मन को प्रसन्न रखना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कषायों को कृश करने के साथ वह अपनी काया को कृश करने के हेतु सर्वप्रथम स्थूल/ठोस आहार—दाल, भात, रोटी जैसे आहार का त्याग करता है तथा दुग्ध, छाछ आदि जैसे पेय पदार्थों में रहने का अभ्यास बढ़ाता है। धीरे–धीरे जब दूध, छाछ आदि पर रहने का अभ्यास हो जाता है, तब वह उनका भी त्याग कर मात्र गर्म जल ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक अपने उक्त अभ्यास और शक्ति को बढ़ाकर, धीरजपूर्वक अंत में उस जल का भी त्याग कर देता है और अपने व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए 'पंच–नमस्कार' मंत्र का स्मरण करता हुआ शांतिपूर्वक, इस देह का त्यागकर परलोक को प्रयाण करता है।

4.6 सल्लेखना के अतिचार—

सल्लेखनाधारी साधक को अपनी सेवा, सुश्रूषा होती देखकर अथवा अपनी इस साधना से बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के लोभ में और अधिक जीने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। "मैंने आहारादि का त्याग तो कर दिया है किन्तु मैं अधिक समय तक रहूं, तो मुझे भूख–प्यास आदि की वेदना भी हो सकती है इसलिए अब और अधिक न जीकर शीघ्र ही मर जाऊं तो अच्छा है।" इस प्रकार मरण की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए। "मैंने सल्लेखना तो धारण कर ली है, पर ऐसा न हो कि क्षुधादिक की वेदना बढ़ जाए और मैं उसे सह न पाऊं।" इस प्रकार का भय भी मन से निकाल देना चाहिए। "अब तो मुझे इस संसार से विदा होना ही है, किन्तु एक बार में अपने अमुक मित्र से मिल लेता बहुत अच्छा होता।" इस प्रकार का भाव मित्रानुराग है। सल्लेखनाधारी साधक को इससे भी बचना चाहिए।" "मुझे इस साधना के प्रभाव से आगामी जन्म में विशेष भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त हो", इस प्रकार का विचार करना निदान है। साधक को इससे भी बचना चाहिए। जीने–मरने की चाह, भय, मित्रों से अनुराग और निदान ये पांचों सल्लेखना को दूषित करने वाले अतिचार हैं। साधक को इनसे बचना चाहिए। जो एक बार अतिचार रहित होकर सल्लेखनापूर्वक मरण प्राप्त करता है, वह अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन शास्त्रों के अनुसार सल्लेखना–पूर्वक मरण करने वाला साधक या तो उसी भव से मुक्त हो जाता है या एक या दो भव के अंतराल में। ऐसा कहा गया है कि सल्लेखनापूर्वक मरण होने से अधिक से अधिक सात–आठ भवों के अंतर से तो मुक्ति हो ही जाती है इसीलिए जैन साधना में सल्लेखना को इतना महत्त्व दिया गया है तथा प्रत्येक साधक (श्रावक और मुनि दोनों) को जीवन के अंत में प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया गया है।

4.7 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1–सल्लेखना से क्या आशय है ?

प्रश्न 2–सल्लेखना का उद्देश्य बताइये ?

प्रश्न 3–सल्लेखना और आत्मघात में अन्तर बताइये ?

प्रश्न 4–सल्लेखना के अतिचारों का वर्णन करिये ?

इकाई–5 पंचाचार

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) दर्शनाचार, ज्ञानाचार

(2) चारित्राचार

(3) तपाचार एवं वीर्याचार

पाठ-1–दर्शनाचार, ज्ञानाचार

1.1 आचार जैनधर्म का मेरुदण्ड—

श्रमण संस्कृति के प्रतिनिधि जैनधर्म का मेरुदण्ड उसका 'आचार' है। जिस प्रकार मेरुदण्ड मानवीय देह-यष्टि को पुष्ट एवं सुव्यवस्थित बनाने में सर्वथा कृतकार्य है, उसी प्रकार 'आचार' जैन धर्म को पुष्ट एवं सुप्रतिष्ठित करने में सर्वतोभावेन समर्थ है।

सामाजिक तथा व्यावहारिक परिवेश के अतिरिक्त अपने वास्तिविक रूप में भी आचार का अत्यधिक महत्त्व है। जैन साधकों ने अपने चिन्तन से यह सिद्ध किया है कि जीवन की ऊँचाई मात्र ज्ञान अथवा विश्वास से नहीं आंकी जा सकती है, अपितु दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का प्रमुख मापदण्ड 'आचार' ही है। यह सभी को ज्ञात है कि विश्वास और ज्ञान तब तक जीवन में साकार नहीं हो पाते, जब तक मनुष्य अपने आचार-व्यवहार को मानवोचित आकार प्रदान नहीं करता है।

'आचार' धर्म के अंतस्तल का परिज्ञापक—

विश्व के प्राचीनतम धर्मों में 'जैनधर्म' का महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी प्राचीनता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसके सभी नियम-उपनियम प्रकृति से अपना सामंजस्य स्थापित किये हुए हैं। किसी भी धर्म के अंतस्तल को जानने हेतु उसके आचार मार्ग की जानकारी होना आवश्यक है, क्योंकि आचार-मार्ग के प्रतिपादन में ही धर्म का धर्मत्व समाहित होता है। जैनधर्म की बाह्य अभिव्यक्ति ही 'आचार' है।

सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों तथा विधि विधान का व्यवहारिक, प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक पक्ष 'आचार' कहा जाता है। अर्थात् स्वशक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि में यत्नशील रहना आचार है।

आचार के मूलतः पांच भेद हैं-

1. दर्शनाचार।
2. ज्ञानाचार।
3. चारित्राचार।
4. तपाचार।
5. वीर्याचार।

1.2 दर्शनाचार-

दर्शनाचार का तात्पर्य सम्यग्दर्शन विषयक आचरण से है। अर्थात् शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित तत्त्वश्रद्धानरूप विषयों में किया गया प्रयत्न दर्शनाचार है। दर्शनाचार के अन्तर्गत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन नव पदार्थों का वर्णन है।

1.2.1 दर्शनाचार के अन्तर्गत नव पदार्थ (सात तत्त्व एवं पुण्य पाप)-

(1) जीव—चेतना जिसका लक्षण है, वह जीव है।

जीव दो प्रकार के होते हैं—(1) संसारी, (2) मुक्त।

संसारी जीव—जो जीव चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं वे संसारी हैं।

मुक्त जीव—मुक्ति को प्राप्त हुए जीव मुक्त कहलाते हैं।

संसारी जीव के भेद—

संसारी जीव पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह भेद वाले होते हैं।

(2) अजीव तत्त्व-जीव तत्त्व से विपरीत लक्षण वाले को अजीव तत्त्व कहते हैं। यह रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है :

रूपी द्रव्य के भेद—रूपी द्रव्य के 4 भेद होते हैं—

(1) स्कन्ध—भेद सहित सम्पूर्ण पुद्‌गल स्कन्ध कहलाता है।

(2) देश—भेद सहित सम्पूर्ण पुद्‌गल स्कन्ध के आधे को देश कहते हैं।

(3) प्रदेश—पुद्‌गल द्रव्य के आधे के आधे को प्रदेश कहते हैं।

(4) परमाणु—अविभागी हिस्से को परमाणु कहते हैं।

अरूपी द्रव्य के भेद—धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अरूपी द्रव्य के भेद हैं–

(1) धर्म द्रव्य—जो जीव और पुद्‌गल को गमन करने में सहकारी होता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं।

(2) अधर्म द्रव्य—जो जीव और पुद्‌गल को ठहरने में सहकारी कारण होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

(3) आकाश द्रव्य—जो जीवादि पांचों द्रव्यों को अवकाश देने में सहकारी कारण होता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

(4) काल द्रव्य—पांचों द्रव्यों के परिणमन में कारण भूत वर्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है।

3. आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

4. बन्ध—आत्मा और कर्म के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाना बन्ध है।

यह पुण्य पाप रूप से दो प्रकार का है।

पुण्य—सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, पंचमहाव्रतरूप चारित्र, कषायों के निग्रहरूप गुणों से जो परिणत है, वह 'पुण्य' है। इन परिणामों से सहित जीव को 'पुण्य–जीव' कहते हैं। शुद्ध उपयोग, अनुकम्पा आदि शुभ कर्मों का आगमन ही पुण्यास्रव का कारण है।

पाप—मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, तथा कषायरूप गुणों से परिणत हुआ पुद्‌गल समूह 'पाप' कहलाता है। मिथ्यात्व आदि से परिणत जीव 'पाप–जीव' कहलाते हैं।

अशुद्ध मन वचन काय की क्रियारूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानोपयोगरूप से परिणत होना पापास्रव के कारण हैं।

5. संवर—मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, योगरूप कर्मास्रव के द्वारों को दृढ़व्रतरूपी दरवाजों के द्वारा रोक देना संवर कहलाता है।

6. निर्जरा—पूर्वकृत कर्मों का आत्मप्रदेशों से एक देश क्षय हो जाना निर्जरा कहलाती है। यह सविपाक एवं अविपाक दो प्रकार की है।

सविपाक निर्जरा—उदयरूप से कर्मों के फल का अनुभव करना सविपाक निर्जरा कहलाती है।

अविपाक निर्जरा—समय से उदय में आये हुए गोपुच्छरूप से तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप उपाय के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जाना अविपाक निर्जरा कहलाती है।

7. मोक्ष-आत्मा से समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है। रागी जीव कर्मों से बंधता है किन्तु विरागी जीव कर्मबन्ध से छूटता है।

1.2.2 सम्यग्दर्शन के अष्ट अंग अथवा दर्शनाचार विषयक शुद्धियाँ

1. निःशंकित—निश्चय के अभाव को शंका कहते हैं इसके विपरीत जिसमें वस्तु स्वरूप का निश्चय होने से परिणामों में जो दृढ़ता होती है उसे निःशंकित अंग कहते हैं। शंका से रहित साधु इस शुद्धि को धारण करने वाले होते हैं।

2. निकांक्षित—इहलोक और परलोक के भोगों की अभिलाषा आकांक्षा कहलाती है। यह तीन प्रकार की होती है। इन भोगों में रुचि का अभाव होना निकांक्षित अंग कहलाता है।

आकांक्षा के तीन प्रकार—

इहलोकाकांक्षा—जो इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती, राजा आदि होने की अभिलाषा करता है उसके इहलोकाकांक्षा होती है।

परलोकाकांक्षा—जिसकी परलोक में, स्वर्गादि में देवपने की अभिलाषा होती है वह परलोकाकांक्षा कहतलाती है।

कुधर्माकांक्षा—अपने धर्म को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों के धर्म में जो अभिलाषा होती है। वह कुधर्माकांक्षा कहलाती है।

इस प्रकार इन तीन आकांक्षाओं से रहित जीव निकांक्षित अंग की शुद्धि का पालन करने वाला होता है।

3. निर्विचिकित्सा—विचिकित्सा का अर्थ 'ग्लानि' है। यह द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार की होती है।

द्रव्यविचिकित्सा—मलमूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं को देखकर उसमें ग्लानि करना द्रव्य विचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा—क्षुधा, तृषा, दंशमशक, नग्नता आदि के प्रति मन में ग्लानि होना भाव विचिकत्सा है। दोनों प्रकार की विचिकित्सा (ग्लानि) का अभाव निर्विचिकित्सा है। इस प्रकार से मुनि इस अंग का पालन करते हुए सम्यक्त्व को शुद्ध रखते है।

4. अमूढ़दृष्टि—मिथ्यादेवों में श्रद्धा का भाव मूढ़ दृष्टिपना है तथा कुगुरू, कुदेव, कुधर्म आदि में श्रद्धा का अभाव होना अमूढ़दृष्टि अंग है इस अंग का पालन करने वाले साधु दर्शनाचार को निर्मल बना लेते हैं।

5. उपगूहन—सम्यग्दर्शन और चारित्र से मलिन साधर्मिक को धर्म भक्तिभाव से उसके दोषों को आच्छादित करना उपगूहन अंग है। यह अंग दर्शन और चारित्र गुण को निर्मल करता है। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध संघ के दोषों को आच्छादित करना अथवा इनके द्वारा हुए प्रमादाचरण को प्रकट न करना उपगूहन अंग है।

6. स्थितिकरण—सम्यग्दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म बुद्धिपूर्वक हित, मित और प्रिय वचनों द्वारा दोष दूरकर शीघ्र ही रत्नत्रय में स्थिर करना स्थितिकरण है।

7. वात्सल्य—जैसे गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है वैसे ही चतुर्गति के भ्रमण का नाश करने वाले ऋषि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकारूप चतुःसंघ में वात्सल्य भाव रखना चाहिए।

8. प्रभावना—धर्म कथा आदि के कथन, आतापन, वृक्षमूल, आदि योगों द्वारा तथा हिंसा आदि दोष रहित अपने अहिंसामय धर्म की जीवदया, अनुकम्पा, दान, पूजा आदि द्वारा प्रभावना करना।

इस प्रकार जिनोपदिष्ट तत्त्वार्थों का स्वरूप भावतः सत्य है ऐसा मानना सम्यग्दर्शन है। जो मुनि इनका तथा आठ अंगों का निर्दोष पालन करते हैं वही दर्शनाचार कहलाता है।

1.3 ज्ञानाचार

ज्ञानाचार से तात्पर्य श्रुतज्ञान विषयक आचरण अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांच ज्ञानों की उत्पत्ति के कारणभूत शास्त्रों का अध्ययन, आदर आदि करना ज्ञानाचार है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य सम्यग्ज्ञान से है,

जिसके द्वारा तत्त्व का स्वरूप ज्ञात किया जाता है, चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है, जिसके आश्रय से आत्मा विशुद्ध बन जाता है तथा जिस ज्ञान के माध्यम से जीव राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विभावों से विरक्त होकर श्रेयस् में अनुरक्त होता है, मैत्रीभाव की ओर बढ़ता है वही ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है।

1.3.1 ज्ञानाचार के भेद—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय–इनकी शुद्धिपूर्वक ज्ञान का अभ्यास करना ज्ञानाचार है। ये ही ज्ञानाचार के आठ भेद कहलाते हैं।

1. काल ज्ञानाचार—काल क्रमानुसार निर्धारित कार्यों को उसी के अनुसार करना अथवा स्वाध्याय काल विशेष में शास्त्र पठन, पुनः पुनः उच्चारण, व्याख्यान आदि कार्य जिस समय किये जाने का विधान है उन्हें उसी समय करना काल ज्ञानाचार है।

स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समाप्ति काल में दिग्विभाग शुद्धि एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव शुद्धि का ध्यान रखना आवश्यक है।

द्रव्य शुद्धि—रुधिर, पीव, मांस, मूत्र, लेप, पंचेन्द्रिय जीव का अवयव ये अपने शरीर में या अन्य के शरीर में निकल रहे हों तो उस समय द्रव्यशुद्धि के अभाव में स्वाध्याय वर्जित है।

क्षेत्र शुद्धि—व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों दिशाओं में अट्ठाईस हजार प्रमाण क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख, चमड़े आदि के अभाव को 'क्षेत्र शुद्धि' कहते हैं।

काल शुद्धि—बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्यचन्द्रग्रहण, अकालवृष्टि, दिशा दाह, धूमिका पात, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा, जिनमहिमा आदि के अभाव को काल शुद्धि कहते हैं।

भाव शुद्धि—राग–द्वेष, अहंकार, आर्त–रौद्र ध्यान से रहित, पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति सहित, दर्शनाचार समन्वित मुनियों के भाव शुद्धि होती है।

जो मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि को न करके सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ में स्वाध्याय करते हैं वे असमाधि, सम्यक्त्व की विराधना, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं। जैसे अष्टमी के दिन किया हुआ स्वाध्याय गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन विद्या को नष्ट करता है। यदि साधुजन चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है। दोनों सन्ध्या काल में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गए अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त हो जाते हैं। यह सब कालाचार के अन्तर्गत आता है।

1.3.2 विनयाचार—ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्नों में सदैव विनम्रता का भाव रखना जैसे–पुस्तक आदि को पिच्छिका से शुद्धि करके, हाथ जोड़कर, प्रणाम करके स्वशक्त्यानुसार शुद्धोपयोग–पूर्वक सूत्रार्थ का अध्ययन करना विनय ज्ञानाचार है। अर्थात् मन, वचन, काय के निर्मल परिणामों से युक्त हो श्रुत का पठन पाठन, व्याख्यानादि करना 'विनय ज्ञानाचार' है।

1.3.3 उपधान ज्ञानाचार—श्रुत वाचन आदि के समय तप करना अर्थात् रसपरित्याग आदि के नियमपूर्वक अध्ययन आदि करना ''उपधान ज्ञानाचार है। जैसे–आचाम्ल (कांजी के साथ भात) निर्विकृति (जिससे, जिह्वा एवं मन विकार रहित हो ऐसा घी, दही आदि से रहित ओदन आदि रूप अन्न) तथा अन्य पक्वान्न–ये शास्त्र स्वाध्याय की एकाग्रता में सहायक होने से उपधान कहलाते हैं।

1.3.4 बहुमान ज्ञानाचार—ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनराग, अर्थात् पूजा एवं सत्कारपूर्वक पठनादि कार्य करना 'बहुमान ज्ञानाचार' है। अंगश्रुत के सूत्रार्थों का शुद्ध पठन–पाठन उच्चारण और प्रतिपादन करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः श्रमण को आचार्य, शास्त्रादि की आसादना न करके उनकी विनय, पूजन आदि द्वारा बहुमान प्रगट करना

'बहुमान ज्ञानाचार' है।

1.3.5 अनिह्नव ज्ञानाचार—विद्यागुरु आचार्य आदि का नाम न छिपाना अथवा जिस श्रुत के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त किया हो उस श्रुत को प्रगट करना अनिह्नव ज्ञानाचार है। कुल, व्रत और शीलविहीन गुरु से शास्त्र पढ़कर के भी ऐसा कथन करना कि मैंने इन गुणों से युक्त गुरु से शास्त्राध्ययन किया है–यह 'अनिह्नव ज्ञानाचार' है।

1.3.6 व्यंजन ज्ञानाचार—सूत्र का वाचन करना, वर्ण, पद वाक्यों का शुद्ध उच्चारण करना तथा व्याकरण के आश्रय से निरुक्तिपूर्वक सूत्र ग्रंथ पढ़ना 'व्यंजन ज्ञानाचार' है।

1.3.7 अर्थ ज्ञानाचार—अर्थ बोध करना अर्थात् शास्त्र में अनेकान्तात्मक अर्थ का समन्वय करके अविरोध पूर्वक अर्थ प्रतिपादन करना 'अर्थ ज्ञानाचार' है।

1.3.8 व्यंजनार्थोभय (तदुभय) ज्ञानाचार—सूत्र व्यंजन और अर्थ शुद्धि के साथ शास्त्र का अध्ययन करना तदुभय ज्ञानाचार है। इस प्रकार ज्ञान गुण से सहित ज्ञानाचार केवलज्ञान का कारण है।

1.4 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-पंचाचारों के नाम बताइये ?

प्रश्न 2-दर्शनाचार से क्या आशय है ?

प्रश्न 3-सम्यग्दर्शन के आठ अंग कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 4-ज्ञानाचार से क्या आशय है ?

प्रश्न 5-ज्ञानाचार के भेद कौन-कौन से हैं ?

पाठ-2—चारित्राचार

2.1 प्राणिवध से निवृत्ति तथा इन्द्रियजय में प्रवृत्ति रूप चारित्र गुण से युक्त होना 'चारित्राचार' कहलाता है।

पंचमहाव्रत, पंचसमिति और त्रयगुप्ति इस प्रकार 13 प्रकार के चारित्र को अवधारण करना 'चारित्राचार' कहलाता है। पंचसमिति एवं त्रय गुप्ति इनको अष्टप्रवचन माता भी कहते हैं क्योंकि जिस प्रकार माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही मुनियों के रत्नत्रय का रक्षण और संवर्धन ये अष्ट प्रवचन माता करती हैं।

2.2 चारित्राचार के तेरह भेदों का वर्णन—

पाँच महाव्रत—

अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत।

पाँच समितियाँ—

1. ईयासमिति—मार्ग शुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलम्बन इन चार शुद्धियों का अवलम्बन करने वाले मुनि की सूत्रानुसार गमन क्रिया ईर्या समिति कहलाती है।

2. भाषा समिति—असत्यादि दोषों से वर्जित आगम के अनुकूल सत्य और अनुभय वचन बोलना 'भाषा समिति' कहलाती है। पापभीरू मुनि यदि मौन न रह सके तब उसे हिंसादि पाप तथा अयोग्य वचनों से रहित योग्य वचन बोलना चाहिये। वचन के चार भेद हैं—1. सत्य, 2. असत्य, 3. सत्यासत्य, 4. असत्यमृषा।

सत्य वचन के दस भेद—

(1) जनपद सत्य—जनपद का अर्थ देश है अत: इसे देश सत्य भी कहते हैं। देश विशेष की अपेक्षा से शब्दों का व्यवहार करना जनपद सत्य है। विभिन्न देशवासियों के व्यवहार में जो शब्द अपने किसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गये हों, जैसे–ओदन (भात) शब्द को द्रविड़ में चीर कहते हैं। कन्नड़ भाषा में कूल और गौड़ी भाषा में भक्त कहा जाता है। इस प्रकार एक देश का रूढ़ शब्द दूसरे देश में असत्य भी कहा जा सकता है, फिर भी किसी एक देश की अपेक्षा से कोई इसका प्रयोग करे तो वह (जनपद) सत्य ही है।

(2) सम्मतिसत्य—प्राचीन विद्वानों, आचार्यों या बहुजन द्वारा मान्य किये गये अर्थ में शब्दों का प्रयोग करना सम्मति सत्य है। बहुजन सम्मत शब्द जब सर्वसाधारण अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तब वे सम्मति सत्य बन जाते हैं। जैसे–राजा की स्त्री मनुष्य जाति की स्त्री होते हुए भी महादेवी शब्द से रूढ़ है लोक में इसे स्त्री न कहकर देवी कहा जाता है। यही 'सम्मतिसत्य' है।

(3) स्थापना सत्य—समान आकार या भिन्न आकार वाली व्यक्ति विशेष की स्थापना करके उसे उसी रूप में मानना अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न गुणों का समारोप करके उसे तद्रूप मानना स्थापना सत्य है। जैसे–पत्थर की प्रतिमा में अर्हन्तादि की स्थापना करके उसे तद्रूप मानकर आदर, पूजन आदि करना। इसी तरह शतरंज की गोटों में बादशाह, वजीर की कल्पना करना यह 'स्थापना सत्य' है।

(4) नाम सत्य—गुणों की अपेक्षा न करके व्यवहार के लिये देवदत्त आदि नाम रखना। चूंकि वह नाम देवों द्वारा दत्त नहीं है किन्तु व्यवहार के लिये देवदत्त कहना 'नाम सत्य' है।

(5) रूप सत्य—रूप विशेष की प्रधानता के कारण किसी व्यक्ति या द्रव्य को काला, सफेद आदि वर्ण वाला कहना 'रूप–सत्य' है। जैसे–बगुला पक्षी कई वर्णों के होते हैं किन्तु श्वेत वर्ण की प्रधानता के कारण उन्हें श्वेत कह दिया जाता है।

(6) प्रतीत्य सत्य—इसे आपेक्षिक सत्य भी कहते हैं। अपेक्षा विशेष से वस्तु को छोटी-बड़ी कहना 'प्रतीत्य सत्य' है। मध्यमा अंगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी एवं कनिष्ठा अंगुली की अपेक्षा बड़ी कहना।

(7) व्यवहार सत्य—नैगम, संग्रह आदि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय वह 'व्यवहार सत्य' है। जैसे–चावल पकाने की तैयारी में संलग्न व्यक्ति से पूछने पर कि क्या कर रहे हो ? वह उत्तर दे कि मैं भात पका रहा हूँ। चूंकि भात तो स्वयं पके हुए चावल हैं, तब चावल पकायेगा न कि भात। फिर भी व्यवहार से ऐसे कथन सत्य मान लिये जाते हैं।

(8) सम्भावना सत्य—असम्भवता का निराकरण करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करना 'सम्भावना सत्य' है। जैसे–यह कहना कि इन्द्र चाहे तो पृथ्वी को पलट सकता है।

(9) भाव सत्य—सत्य वचन भी यदि हिंसादि दोष सहित हों तो उन वचनों को भी नहीं बोलना अर्थात् हिंसादि दोष रहित योग्यवचन बोलना भाव सत्य है। जैसे—किसी कसाई द्वारा पूछने पर कि इधर से गाय को जाते हुए देखा है? मैंने नहीं देखा–कह देना भाव सत्य है।

(10) उपमा सत्य—किसी एक अंश की भी समानता को लेकर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना 'उपमा सत्य' है। जैसे–पूजन कार्य में प्रयुक्त पीले चावलों को सादृश्य के कारण पुष्प कह देना। इसी तरह किसी स्त्री को चन्द्रमुखी कह देना। पल्योपम, सागरोपम आदि भी उपमा सत्य के उदाहरण हैं। उपमा के चार भेद हैं—

1. सत् की सत् से उपमा अर्थात् विद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ से उपमित करना। जैसे–नेत्र कमल के समान विकसित हैं।

2. सत् की असत् से उपमा–जैसे यह कहना कि इन्द्र में इतना बल है कि वह मेरुपर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बना सकता है किन्तु ऐसा करता नहीं।

3. असत् की सत् से उपमा।

4. असत् की असत् से उपमा–जैसे यह कहना कि चन्दन का पुष्प आकाश पुष्प की तरह है। इसमें उपमा उपमेय दोनों असत् हैं।

असत्य वचन—सत्य वचन से जो विपरीत है वह असत्य वचन है। क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, भय, आख्यायिका, हास्य, उपहास इन कारणों के आश्रित होकर व्यक्ति असत्य बोलता है। भाषा समिति के पालक मुनिराज इसके पूर्णतया त्यागी होते हैं।

सत्यासत्य या सत्यमृषा वचन—वचन का तृतीय भेद सत्य मृषा है इसके शब्द वाक्य या वचन में सत्यता और असत्यता दोनों का समावेश रहता है।

असत्य मृषा वचन—जो वचन न सत्य होता है और न असत्य अर्थात् जिसमें सत्यता, असत्यता इन दोनों का अभाव हो ऐसे अनुभय रूप पदार्थ के जानने की शक्ति रूप भावमन को चतुर्थ असत्यमृषा या सामान्य वचन कहते हैं।

असत्यमृषा वचन के नव भेद हैं—

(1) आमन्त्रणी—जिसके द्वारा आमन्त्रण किया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है अथवा किसी व्यक्ति को कार्य में लगाने से पूर्व उसे बुलाने के लिए प्रयुक्त वचन। जैसे–हे देवदत्त! यहां आओ।

(2) आज्ञापनी—जिसके द्वारा आज्ञा दी जाती है वह आज्ञापनी भाषा है, जैसे–स्वाध्याय करो।

(3) याचनी—जिस भाषा के द्वारा किसी से वस्तु की याचना की जाय।

(4) पृच्छनी—जिसके द्वारा प्रश्न किया जाता है वह पृच्छनी भाषा है। जैसे–मैं आपसे पूछता हूँ।

(5) प्रज्ञापनी—जिसके द्वारा प्रज्ञापना की जाय वह प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे—मैं आपसे कुछ निवेदन करता हूँ।

(6) प्रत्याख्यानी—त्याग करना अर्थात् मैं इस वस्तु का त्याग करता हूँ अथवा मैं यह कार्य नहीं करूंगा–इस

तरह के त्यागपूर्ण वचन प्रत्याख्यानी भाषा है।

(7) इच्छानुलोमा—पूछने वाले की इच्छा का अनुमोदन करना अर्थात् इसके अनुकूल अपनी इच्छा या अनुमोदना प्रगट करना। यथा–जैसा आप चाहते हैं वैसा ही मैं करता हूं।

(8) संशय वचनी—अव्यक्त या संशययुक्त वचन। जैसे–'दन्तरहिता' शब्द कहने से दो, तीन माह की बच्ची का भी ग्रहण हो सकता है और वृद्धा का भी अतः अभिप्राय की उभयात्मकता के कारण ऐसा वचन 'असत्यमृषा' है।

(9) अनक्षरगता—द्वीन्द्रिय आदि तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की चकार, मकरादि अक्षरों से रहित भाषा 'अनक्षरगता' है। अस्पष्ट आवाज, चुटकी, अंगुलि आदि के संकेत भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

जैसे–जिस पुरुष ने अंगुलि चटकाने आदि के शब्द या संकेत ग्रहण किये उसे तो ध्वनि सी प्रतीति होती है, दूसरे को नहीं होती। इस तरह यह वचन उभय रूप है।

इस प्रकार भाषा समिति के प्रसंग में वचन (भाषा) के भेद–प्रभेदों के सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि मुनि को भाषा या वचन प्रयोग में कितना सावधान रहना पड़ता है।

3. एषणा समिति—छ्यालिस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

4. आदान निक्षेपण समिति—ज्ञानोपधि शास्त्र, संयमोपधि पिच्छिका, शुद्धता हेतु कमण्डलु रूप उपाधि तथा इसी तरह की अन्य संस्तर आदि उपाधि को ग्रहण करते या रखते समय प्रयत्न और उपयोगपूर्वक अपने नेत्रों से स्थान एवं द्रव्य को अच्छी तरह देखकर पिच्छिका से उनका प्रमार्जन करना ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों का भी घात न हो–ऐसा सोचकर उक्त उपकरणों का उपयोग करना आदाननिक्षपेण समिति है। सामान्यतः वस्तुओं को उठाने रखने में चार दोषों की संभावना रहती है।

सहसादोष—बिना देखे सहसा कोई पुस्तक आदि उठाना–रखना।

अनाभोगित दोष—अस्थिर चित्त वृत्ति से बिना देखे वस्तुयें उठाना–रखना।

दुष्प्रमार्जित—पुस्तक आदि को पिच्छिका से असावधानीपूर्वक वस्तुओं को ग्रहण या निक्षेपण करना चाहिए तभी इस समिति का परिपूर्ण पालन किया जा सकता है।

5. व्युत्सर्ग समिति—अपने मलमूत्रादिक का त्याग सूखे एवं जन्तु रहित स्थान पर करना व्युत्सर्ग समिति है।

तीन गुप्तियाँ—

मनोगुप्ति—रागद्वेष से मन में उत्पन्न सभी प्रकार के संकल्पों का त्याग 'मनोगुप्ति' है।

वचन गुप्ति—असत्य कटु आदि वचनों का त्याग तथा मौन धारण करना 'वचनगुप्ति' है।

काय गुप्ति—शारीरिक क्रियाओं की निवृत्ति तथा कायोत्सर्ग करना एवं हिंसा आदि पापों से निवृत्त होने का नाम 'कायगुप्ति' है। इस तरह मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को ध्यान और स्वाध्याय में समाहित करना चाहिए।

इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्राचार यहाँ वर्णित किया गया है।

2.3 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-चारित्राचार से क्या आशय है ?

प्रश्न 2-चारित्र के भेदों के नाम बताइये ?

प्रश्न 3-भाषा समिति से क्या आशय है ?

प्रश्न 4-आदान निक्षेपण समिति को समझाये ?

पाठ-3 तपाचार एवं वीर्याचार

3.1 कायक्लेशादि रूप बारह प्रकार के तपों में कुशल एवं अग्लान रहना तथा उत्साहपूर्वक इन तपों का अनुष्ठान करना 'तपाचार' है। तपाचार के बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा दो प्रकार हैं–

3.2 बाह्य तप—

जो बाह्य जनों में प्रकट हो वह 'बाह्यतप' हैं। बाह्य–तप के छह भेद हैं–

3.2.1 अनशन तप—चार प्रकार के आहार का त्याग करना 'अनशन' कहलाता है। यह साकांक्ष एवं निराकांक्ष के भेद से दो प्रकार का है–

साकांक्ष अनशन तप—काल की मर्यादापूर्वक भोजनाकांक्षा से युक्त होकर बेला, तेला, चौला, पांच उपवास, पन्द्रह दिवस, एक माह का उपवास, कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान 'साकांक्ष–अनशन' तप है।

निराकांक्ष अनशन तप—मरण समय निकट समझकर जीवन पर्यन्त के लिए आहार शरीर आदि का त्याग 'निराकांक्ष अनशन' तप है। यह तीन प्रकार से होता है।

(1) भक्त प्रतिज्ञा—दो से लेकर अड़तालीस पर्यन्त निर्यापकों के द्वारा जिनकी परिचर्या की जाती है, जो अपनी ओर पर के उपकार की अपेक्षा रखते हैं ऐसे मुनि का जीवन पर्यन्त के लिए आहार का परित्याग 'भक्त–प्रत्याख्यान' है।

(2) इंगिनीमरण—जो उपकार की अपेक्षा सहित हैं और पर के उपकार से निरपेक्ष हैं वह 'इंगिनी मरण' है।

(3) प्रायोपगमन मरण—जिस मरण में अपने और पर की अपेक्षा नहीं है वह 'प्रायोपगमन मरण' है। ये तीन भेद पंडितमरण के अन्तर्गत हैं।

3.2.2 अवमौदर्य तप—भूख से कम भोजन करना अर्थात् पुरुष का प्राकृतिक आहार बत्तीस कवल (ग्रास) प्रमाण होता है तथा स्त्रियों का अट्ठाईस ग्रास प्रमाण होता है। इनमें से एक–एक ग्रास क्रमशः कम आहार ग्रहण करते हुए एक ग्रास अथवा एक सिक्थ तक आहार ग्रहण करना 'अवमौदर्य–तप' है।

यह अवमौदर्य तप उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, षडावश्यक, आतापन आदि योग, ध्यान, स्वाध्याय, चारित्र पालन, निद्राविजय में उपग्रह (उपकार) करता है, इतना ही नहीं वरन् इस तप से इन्द्रियां स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करतीं।

3.2.3 रस परित्याग तप—आस्वादन रूप क्रिया–धर्म का नाम रस है। इस दृष्टि से दूध, दही, घी, तेल, गुड़, नमक आदि द्रव्यों तथा कटु तिक्त, कषायला, अम्ल और मधुर इस रस का पूर्णतः त्याग करना रस परित्याग तप है।

3.2.4 वृत्ति परिसंख्यान तप—भोजन, भाजन, घर–बार इन्हें वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का परित्याग अर्थात् परिमाण, नियन्त्रण, ग्रहण करना वृत्ति परिसंख्यान है।

3.2.5 कायक्लेश तप—स्थान, शयन आदि धर्मोपकार के हेतुभूत विविध साधनों से शास्त्रानुसार विवेकपूर्वक वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापनादि से शरीर को परिताप देना कायक्लेश तप है।

3.2.6 विविक्तशयनासन—सामान्यतः इसका अर्थ है बाधारहित एकान्त स्थान में रहना। मूलाचार में कहा है कि तिर्यंच, मनुष्य सम्बन्धी, स्त्री जाति, सविकारिणी देवी अर्थात् भवनवासी, व्यन्तरादि से सम्बन्धित देवांगनाएं तथा गृहस्थ इन सबसे संसक्त घर, आवास आदि तथा अप्रमत्तजनों के संसर्ग से रहित एकान्त स्थानों में रहना विविक्त शयनासन तप है।

3.3 आभ्यन्तर तप—

चिन्तन, मनन और अनुशीलन द्वारा मन को एकाग्र शुद्ध और निर्मल बनाना यह आभ्यन्तर तप के कार्य हैं। आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार के हैं—

3.3.1 प्रायश्चित्त तप—पूर्वकाल में किये हुए पापों का विनाश करके जिसके द्वारा आत्मा को निर्मल बनाया जाए वह 'प्रायश्चित्त तप' है। मूलाचार में प्रायश्चित्त के अन्यान्य आठ नामों का उल्लेख है—पूर्वकर्म क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन, उत्क्षेपण और छेदन।

प्रायश्चित्त तप के भेद—

प्रायश्चित्त तप के दस भेद हैं।

1. आलोचना-आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना 'आलोचना' है। इसके द्वारा श्रमण तीन शल्यों (माया, मिथ्यात्व एवं निदान) को दूरकर देता है। इससे हृदय में निर्मलता का संचार होता है और अन्तर–जीवन निर्दोष बनता है। आलोचना जिन दोषों से रहित होकर की जाती है वे दस दोष निम्नलिखित हैं–

(1) आकम्पित—अन्न, पान, उपकरण आदि देकर आचार्य को अपना आत्मीय बनाकर दोषों का निवेदन करना।

(2) अनुमानित—शरीर की शक्ति, आहार और बल की अल्पता दिखाकर अनुनयपूर्वक दीन वचनों से आचार्य को अनुमत करना, उनके मन में करुणा उत्पन्न कर दोष निवेदन करना।

(3) यद्दृष्ट—जो दोष दूसरे साधु देख चुके उनकी तो आलोचना कर लेना, बाकी दोष छिपा लेना।

(4) बादर—बड़े दोष कहना, छोटे छिपाना।

(5) सूक्ष्म—छोटे दोषों का निवेदन करना, बड़े छिपा लेना।

(6) छन्न—इसका अर्थ प्रच्छन्न है अर्थात् किसी बहाने दोष कथन कर उस दोष का उपयुक्त प्रायश्चित्त अपने गुरु से जानकर स्वतः प्रायश्चित्त ले लेना।

(7) शब्दाकुलित—जब सभी मिलकर एक साथ पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण कर रहे हों तो उसी समय बीच में अपने दोष निवेदन करना ताकि आचार्य या दूसरे साधु उसे अच्छी तरह न सुन सकें।

(8) बहुजन—एक आचार्य से अपने दोष निवेदन करने पर उन्होंने जो प्रायश्चित्त दिया है, उस पर अश्रद्धा करके दूसरे आचार्य से प्रायश्चित्त पूछना।

(9) अव्यक्त—लघु प्रायश्चित्त के उद्देश्य से प्रायश्चित्त देने में अकुशल के समक्ष अपने दोष निवेदन करना।

(10) तत्सेवी—जो अपने सदृश दोषों से युक्त हैं, उसी से अपने दोष निवेदन करना ताकि वह बड़ा प्रायश्चित्त न दे सकें।

2. प्रतिक्रमण—प्रमादवश कृत दोषों का शोधन करना 'प्रतिक्रमण' है अर्थात् कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा किये हुए पापों की निवृत्ति के लिए 'मिच्छा मे दुक्कडं' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो–ऐसा मानसिक पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। यह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि रूप है।

3. तदुभय—जिस दोष की शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण इन दोनों के करने से हो वह 'तदुभय' है।

4. विवेक—जिस वस्तु के त्याग से दोष की विशुद्धि हो उन संसक्त (अप्रासुक) अन्न–पान–उपकरण आदि का त्याग 'विवेक' है।

5. व्युत्सर्ग—काल का नियम करके कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर के व्यापार को रोककर एकाग्रतापूर्वक ध्येय वस्तु में उपयोग लगाना 'व्युत्सर्ग' है।

6. तप—अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप है।

7. छेद—दोषों की लघुता या गुरुता के अनुसार उसकी निवृत्ति हेतु पक्ष, मास, वर्ष आदि काल प्रमाण की दीक्षा

छेदकर कम कर देना 'छेद' नामक प्रायश्चित्त है।

8. मूल — विपरीत आचरण से उत्पन्न दोषों की शुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेदकर नई दीक्षा देना 'मूल' नामक प्रायश्चित्त है।

9. परिहार — दोष करने वाले श्रमण को दोषानुसार पक्ष, मास आदि काल तक अपने संसर्ग से अलग कर देना तथा उससे किसी तरह का सम्पर्क न रखना 'परिहार प्रायश्चित्त' है।

10. श्रद्धान — सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व में उन्मुख श्रमण को श्रद्धायुक्त बनाकर पुनः दीक्षित करना अथवा मानसिक दोष के होने पर उसके परिमार्जन के लिए 'मेरा दोष मिथ्या हो'–ऐसा अभिव्यक्त करने को 'श्रद्धान–प्रायश्चित्त' कहते हैं। इस प्रकार प्रायश्चित्त के भेद–प्रभेद हैं।

3.3.2 विनय तप —

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार रूप अशुभ–क्रियाओं से निवृत्ति का नाम 'विनय तप' है। विनयतप के निम्नलिखित पांच भेद हैं—

1. दर्शन विनय — उपगूहन, स्थितिकरणादि अंगों को धारण करना तथा शंका, कांक्षा आदि दोषों का वर्जन करना 'दर्शन विनय' है।

2. ज्ञान विनय — श्रुतज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना 'ज्ञान–विनय' है। जो संवर–निर्जरा का कारण है। यह ज्ञान सम्बन्धी विनय आठ प्रकार की होती है :

(1) काल विनय — द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन करना 'काल विनय' है।

(2) ज्ञानविनय — हाथ पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर ग्रंथों का अध्ययन करना 'ज्ञान विनय' है।

(3) उपधान विनय — अवग्रह विशेष विनय के साथ पढ़ना 'उपधान विनय' है।

(4) बहुमान विनय — जो ग्रंथ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस शास्त्र एवं गुरु दोनों की पूजा करना, उनके गुणों का स्तवन करना 'बहुमान विनय' है।

(5) अनिह्नव विनय — जिस ग्रंथ को पढ़ते हैं और जिस गुरु से पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना, उस ग्रंथ या गुरु का नाम नहीं छिपाना 'अनिह्नव विनय' है।

(6) व्यंजनशुद्ध विनय — शब्दों का शुद्ध पढ़ना 'व्यंजनशुद्ध' विनय' है।

(7) अर्थशुद्ध विनय — शब्दों का अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है।

(8) तदुभय विनय — शब्द, अर्थ दोनों का शुद्ध रखना व्यंजनार्थ 'उभय शुद्ध विनय' है।

3. चारित्र विनय — इन्द्रियों का निरोध, कषायों का निग्रह तथा समिति, गुप्ति की रक्षा में प्रयत्न यह सब 'चारित्र–विनय' है।

4. तपो विनय — आतापन आदि उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अच्छी तरह अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि–वृद्धि न करना तपोविनय है। इसके साथ–साथ तपोनिष्ठ साधु में और तप में भक्ति रखना, अन्य मुनियों की अवहेलना नहीं करना, आगम में कथित चारित्र वाले साधु का यह सब तपो विनय के अन्तर्गत है।

5. औपचारिक विनय — रत्नत्रय के धारक श्रमण के अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना 'औपचारिक विनय' है। यह विनय तीन प्रकार की है।

(1) कायिक औपचारिक विनय — अपनी काय के द्वारा साधु वर्ग का जो यथायोग्य उपचार किया जाता है। यह 'कायिक' औपचारिक–विनय है। यह सात प्रकार की है।

1. अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनों के आगमन पर आदरपूर्वक उठना।

2. सन्नति—ऋषियों को अंजुलि जोड़कर नमन करना।

3. आसनदान—गुरुजनों के आगमन पर आसन प्रदान करना।

4. अनुप्रदान—पुस्तक आदि देना।

5. कृतिकर्म—सिद्ध, श्रुत और गुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना।

6. अनुव्रजन—प्रस्थान के समय गुरुओं के पीछे–पीछे चलना या थोड़ी दूर तक साथ जाना।

7. आसनत्याग—गुरुओं के आगमन पर अपना आसन छोड़ देना।

यह सब कायिक विनय के अन्तर्गत आता है।

(2) वाचिक औपचारिक विनय—पूज्य भावरूप बहुवचन युक्त, हित, मित, प्रिय, सूत्रानुवीची (आगमानुकूल) अनिष्ठुर, अकर्कश, उपशान्त, अगृहस्थ, अक्रिया और अनीहन (अपमानरहित) वचन बोलना 'वाचिक उपचार–विनय' है। इसके चार भेद हैं–

1. हितवचन—धर्म संयुक्त वचन बोलना।

2. मितवचन—जिसमें अक्षर कम हों, अर्थ बहुल हो ऐसे वचन बोलना।

3. परिमित वचन—हित मित वचन बोलना अर्थात् निष्प्रयोजन नहीं बोलना।

4. अनुवीचिभाषण—आगम से अविरुद्ध वचन बोलना।

(3) मानसिक औपचारिक विनय—हिंसादि पाप और विश्रुति रूप सम्यक्त्व की विराधना के परिणामों का त्याग करना तथा प्रिय और हित परिणामयुक्त होना 'मानसिक–उपचार' विनय है। इस विनय के दो भेद हैं—

1. अकुशल मननिरोध—पापास्रव करने वाले अशुभ मन का निरोध।

2. कुशल मनप्रवृत्ति—धर्म में चित्त को लगाना। औपचारिक विनय के उपर्युक्त तीनों भेदों में से प्रत्येक के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो–दो उपभेद भी होते हैं–

परोक्ष विनय—जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह 'परोक्ष विनय' है।

प्रत्यक्ष विनय—जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर हैं तब उनकी विनय 'प्रत्यक्ष–विनय' है।

वस्तुतः विनय जिनशासन का मूल है, मोक्ष का द्वार है, विनय से संयम, तप व ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य एवं सर्वसंघ आराधित होता है। विनय से आचार, जीव कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है। आत्मशुद्धि, निर्द्वंदता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति एवं आह्लाद गुण प्रगट होते हैं। कीर्ति, मैत्री, मानभंजन, गुरुओं में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं।

विनय से हीन मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। विनय ही वास्तविक शिक्षा का फल है, विनय से अल्पज्ञानी भी कर्मों का क्षय कर लेता है। विनय ही सर्व कल्याणों का हेतु है।

3.3.3 वैयावृत्त्य तप—

यह आभ्यन्तर तप का तृतीय भेद है। जिसका अर्थ है–सेवा करना, कार्य में व्यावृत होना या धर्म साधना में सहायक प्रासुक वस्तु के द्वारा अपनी सेवा द्वारा सभी साधर्मिक साधुओं का कष्ट दूर करना, उन्हें सहयोग या अनुकूलता प्रदान करना 'वैयावृत्त्य तप' है।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर, नवदीक्षित बालमुनि, वृद्ध अर्थात्, वय, तप आदि गुणों में वृद्ध मुनियों से कुलों और गच्छों की सर्व सामर्थ्य से जैसे–शैयावकाश रूप ? निषद्या (आसन आदि) उपाधि, प्रतिलेखना, विशुद्ध आहार, औषधि, वाचना, विकिंचन और वन्दना द्वारा श्रमणों की सेवा करना 'वैयावृत्त्य तप' है।

जो मुनि मार्गजन्य श्रम से थक गये हों, जिन्हें रास्ते में चोर आदि ने सताया हो, सिंह–व्याघ्रादि जंगली जानवरों, दुष्ट राजाओं, नदी के द्वारा बाधा उत्पन्न होने से तथा महामारी जैसे रोग, दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित होने पर उनका संग्रह करके अनुकूल स्थान में लाना, संरक्षण आदि करना वैयावृत्त्य तप है।

वैयावृत्त्य में कुशल श्रमण को 'प्रज्ञा–श्रमण' कहा गया है क्योंकि ऐसा श्रमण विनय तथा वैराग्ययुक्त, जितेन्द्रिय तथा सर्वसंघ का प्रतिपालक होता है।

3.3.4 स्वाध्याय तप—

स्वाध्याय तप की दो निरूक्तियाँ हैं—

(1) स्व + अध्याय। यहां स्व से तात्पर्य आत्मा के लिए हितकारक, 'अध्याय' का अर्थ अध्ययन अर्थात् आत्मा के लिए हितकारक परमागम का अध्ययन 'स्वाध्याय' है।

(2) सु + आ + अध्याय, यहां सु का अर्थ सम्यक् शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन–अध्यापन, श्रवण, मनन और चिन्तन को स्वाध्याय कहा जाता है।

जिनोपदिष्ट बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों का उपदेश करना, प्रतिपादन आदि करना 'स्वाध्याय तप' है।

स्वाध्याय शील श्रमण पंचेन्द्रियों का संवर, मन, वचन, काय इन तीन गुप्तियों का पालन करता है। आगम और गुरु के प्रति विनयी रहता हुआ अपने चित्त को स्वाध्याय द्वारा एकाग्र करता है, आत्मस्वरूप का मनन करता है, अपने प्रकाशमय स्वरूप को जानकर सम्पूर्ण जग में प्रकाश बांटता है क्योंकि स्वाध्याय तो ज्ञानरूपी सूर्य को प्रकाशित करने का साधन है, जिसे अज्ञान के मेघों ने ढक रखा है।

स्वाध्याय के भेद—

स्वाध्याय के पांच भेद हैं—

वाचना—निर्दोष ग्रंथ व्याख्यान (प्रतिपादन) करना 'वाचना' है।

पृच्छना—संशय का उच्छेद करने या निर्णय की पुष्टि के लिए शास्त्रों के गूढ़ अर्थ को दूसरों से पूछना 'पृच्छना' है।

आम्नाय—पठित ग्रंथों को शुद्ध उच्चारणपूर्वक बार–बार दोहराना या पढ़ना 'परिवर्तना' है इसे ही आम्नाय कहते हैं।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए अर्थ का मन में पुनः–पुनः मनन, चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

धर्मोपदेश स्वाध्याय—पठित परिचित या जानी हुई वस्तु का लौकिक फल की आकांक्षा के बिना रहस्य समझना या धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना या धर्मोपदेश देना।

स्वाध्याय में कालशुद्धि आदि का महत्त्व—स्वाध्याय तप में काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव इन चार शुद्धियों का विशेष महत्त्व है। इनकी शुद्धि के बिना स्वाध्याय करने में अनेक दोष हैं—

काल शुद्धि के चार भेद माने गये हैं–

(1) रात्रि का पूर्वभाग।

(2) दिन का पश्चिम भाग।

(3) वैरात्रिक काल।

(4) गोसर्गिक काल।

इस प्रकार इन चार कालों में से दिन का पूर्व और अपरकाल तथा रात्रि का पूर्व और अभीक्ष्णकाल स्वाध्याय के योग्य है। स्वाध्याय का प्रारम्भ काल (सूर्योदय के बाद) जंघाच्छाया अर्थात् सात पद है तथा समाप्तिकाल अपराह्न काल में जंघाच्छाया शेष रहने तक है। आषाढ़ मास में पूर्वाह्न के समय दो पद प्रमाण जंघाच्छाया तथा पौष मास में मध्याह्न के प्रारम्भ में चार पद प्रमाण जंघाच्छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्ति का काल है क्योंकि आषाढ़ मास के

अन्तिम दिन से प्रत्येक महीने दो–दो अंगुल छाया बढ़ते–बढ़ते पौष मास तक चार पद प्रमाण हो जाती है और उधर पौष मास से लेकर प्रत्येक महीने क्रमशः दो–दो अंगुल छाया कम होते हुए आषाढ़ मास के अन्तिम दिन में दो पद प्रमाण रह जाती है।

काल शुद्धि में जो ग्रंथ पढ़े जा सकते हैं वे हैं–सर्वज्ञ के मुख से अर्थ ग्रहण करके गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग तथा प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वी–इनके द्वारा रचित सूत्र ग्रंथ किन्तु कालशुद्धि के बिना अस्वाध्याय काल में श्रमणों और आर्यिकाओं के लिए इन सूत्र ग्रंथों को पढ़ना योग्य नहीं है। उपर्युक्त सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ तो काल शुद्धि आदि न होने पर भी अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं। जैसे—आराधना निर्युक्ति, मरण–विभक्ति, संग्रह–स्तुतियां, प्रत्याख्यान, आवश्यक, धर्मकथा तथा इन जैसे और भी अन्यान्य ग्रंथ।

काल शुद्धि के साथ ही दिशा आदि से सम्बन्धित उत्पातों या विघ्नों में भी स्वाध्याय करने का निषेध किया है जैसे–

दिग्दाह—उत्पातवश कभी–कभी दिशाओं का अग्निवर्ण हो जाना।

उल्कापात—पुच्छल तारे का टूटना या तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना।

बिजली चमकना।

चडत्कार—मेघों में संघट्ट से वज्रपात होना।

ओले गिरना।

इन्द्रधनुष दिखना।

दुर्गन्ध फैलना।

लोहित—पीतवर्ण की सन्ध्या का होना।

दुर्दिन—पानी की सतत् वर्षा होते रहना एवं बादलों का निरन्तर आच्छादित रहना।

चन्द्र ग्रहण।

सूर्यग्रहण।

कल आदि उपद्रव।

धूमकेतु।

भूकम्प।

मेघों का गरजना आदि बहुत से दोषों के उपस्थित रहने पर स्वाध्याय वर्जित है।

काल शुद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र एवं भाव—शुद्धि भी अनिवार्य है। चारों दिशाओं में यदि सौ हाथ प्रमाण दूर तक रक्त, मांस आदि अपवित्र पदार्थ दिखाई दें तो स्वाध्याय के समय अपने और दूसरों के मन में संक्लेश परिणाम नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार सभी तपों के मध्य में स्वाध्याय तप का अपना विशेष महत्त्व है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट बारह प्रकार के अभ्यन्तर और बाह्य तपों में स्वाध्याय के समान न तो कोई तप कर्म है, न होगा।

3.3.5 ध्यान तप—

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द बना है। जिसका अर्थ है—चित्त शुद्धि, एक विषय में चित्त का स्थिर करना 'ध्यान' है अर्थात् गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध–क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायुरहित प्रदेश में दीपशिखा अपरिस्पन्द रहती है, उसी तरह निराकुलदेश में एक लक्ष्य में बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति बिना व्याक्षेप के वहीं स्थिर रहती है। इस निश्चल दीपशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही 'ध्यान' है।

ध्यान तप के माध्यम से साधक चित्त की चंचलता को रोककर एकाग्रता द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करता